वर्ष ४६] * * * [अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, नवम्बर १९७२

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

हरे राम हरे राम
राम राम हरे हरे
हरे कृष्ण हरे कृष्ण
कृष्ण कृष्ण हरे हरे
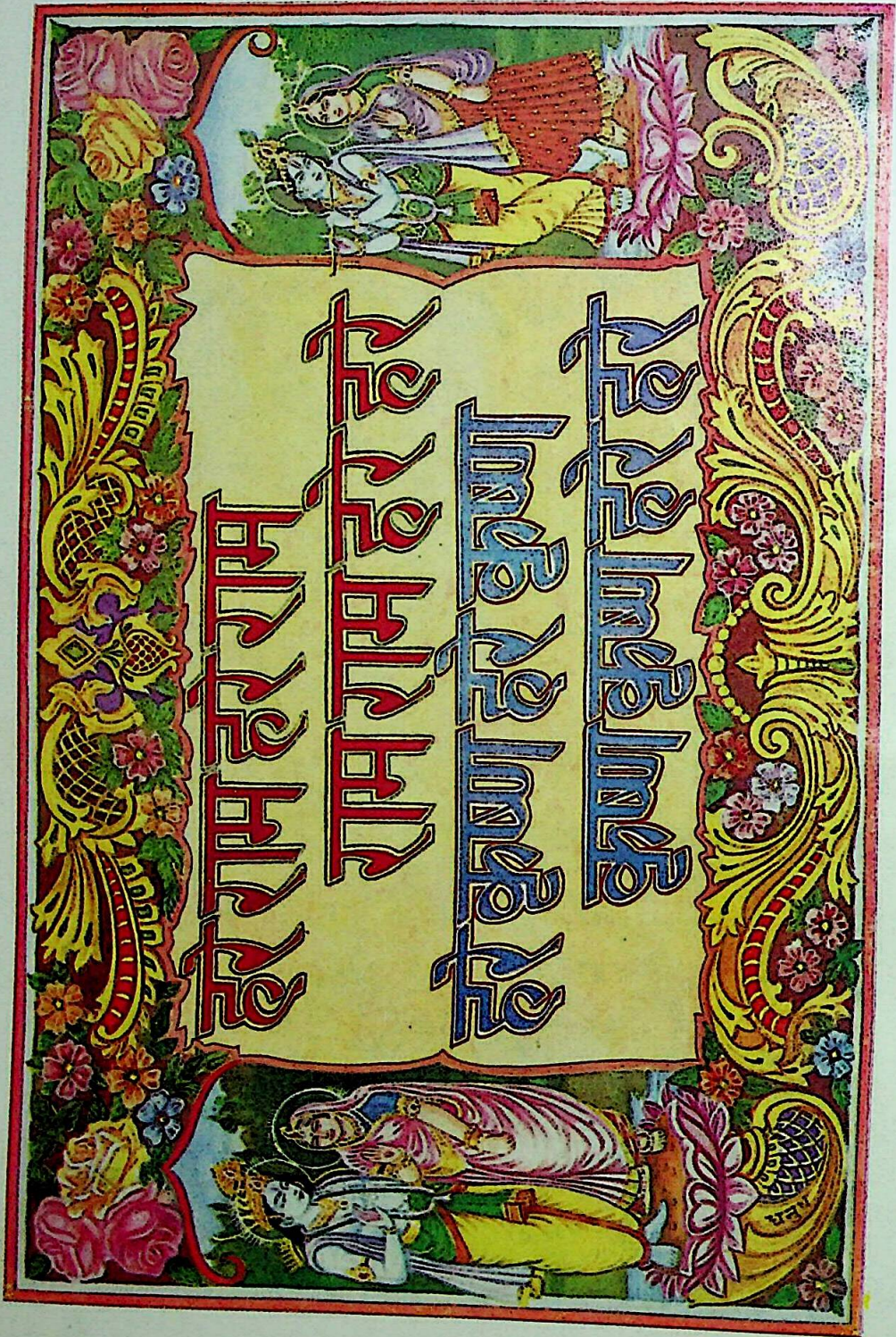
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, नवम्बर १९७२ { संख्या ११ पूर्ण संख्या ५५२

भगवन्नामकी जय हो !

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥

(श्रीलक्ष्मीधर : भगवन्नामकौमुदी १ । १)

जिस प्रकार सूर्यदेव उदय होनेमात्रसे अन्धकारके समुद्रको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिका नाम एक बार उच्चारणमात्रसे ही जीवमात्रके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देता है । उस जगन्मङ्गलरूप श्रीहरि-नामकी जय हो ।

कल्याण

भगवान् शंकर पार्वतीजीसे कहते हैं—

'सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥'
(मानस ३ । ३२ । १½)

'हे उमा! जो भगवान्‌को छोड़कर भोगोंमें राग करते हैं, भोगोंसे प्रेम करते हैं, भोगोंमें आसक्त रहते हैं, वे अभागे हैं।'

बहुत बड़े भाग्यसे हमें मनुष्यका शरीर मिला है—'बड़े भाग मानुष तनु पावा' और मनुष्य-शरीरको पाकर भी यदि कोई भगवत्प्राप्तिके साधनमें नहीं लगा, जो इस शरीरके लाभका वास्तविक फल है—अपितु और-और फँसानेवाले विषयोंमें नीची गतिमें ले जानेवाले भोगोंमें, नरकोंमें ले जानेवाले अवैध पाप-कर्मोंमें ही लगा रहा तो सचमुच वह अभागा है—उसका भाग्य फूटा हुआ है; क्योंकि उसके ये कर्म लोक-परलोक दोनोंमें दुःखदायी हैं। हम सबको इसी गजसे अपनेको नापना है कि हम कहाँ जा रहे हैं। भगवान्‌में यदि हमारा अनुराग बढ़ रहा है तो हमारी वास्तविक प्रगति हो रही है, अन्यथा हम विनाशकी ओर बढ़ रहे हैं।

जिसके जीवनमें भगवदनुराग जग गया है—अङ्कुरित हो गया है, उसके मनमें जगत्‌के भोगोंके प्रति उदासीनता, विरक्ति, अनास्था आने लगती है। सर्वप्रथम उदासीनता आती है—भोगोंके प्रति उपेक्षा बुद्धि होती है, इसके बाद भोगोंसे मन हटता है—भोग खारे लगते हैं। जिसको भोग खारे लगें, समझना चाहिये कि वह ठीक मार्गपर चल रहा है। उसके बाद धीरे-धीरे उसके मनसे भोगोंकी सत्ता ही मिट जाती है और अनुरागके जो एकमात्र विषय हैं—भगवान्, बस, उनकी सत्ता रह जाती है। जहाँ ऐसा हुआ, वहाँ भोग भोगरूपमें नहीं रहते, वे भगवान्‌की पूजाकी सामग्रीके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं।

भगवदनुरागके अङ्कुरित होनेकी यह कसौटी है। जबतक यह स्थिति न हो, तबतक निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसके लिये अन्तर्मुखी वृत्तिसे निरन्तर चेष्टा करनेकी आवश्यकता है। यह नहीं कि हम घड़ी, आध घड़ी दिनमें कभी बैठ गये, मन लगा न लगा, हमने अपना नियम पूरा कर लिया। कुछ न करनेसे तो इतना करना भी अच्छा है। किसी प्रकारसे भी—बिना मन लगे ही—घड़ी, आध घड़ी भगवान्‌की स्मृतिके लिये जो बैठनेका अभ्यास है, वह भी बहुत लाभदायक है। अतएव इस साधनको छोड़ना नहीं चाहिये; परंतु इससे काम नहीं बनता। उसके लिये तो लगातार प्रयत्न करते रहना पड़ता है।

भक्तिके आचार्य श्रीनारदजीने बताया है कि 'अखण्ड भजनसे ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सम्भव है—'अव्यावृतभजनात्।' (प्रेमदर्शन ३६)। विषयोंसे मुँह मोड़ना 'वैराग्य' है और भगवद्भजन 'अभ्यास'। भजनरूपी अभ्यास वही सिद्ध होता है, जो सदा होता रहे, सतत होता रहे और सत्कारपूर्वक हो। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'
(योगदर्शन १ । १४)

'दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर सत्कारके साथ करनेपर ही अभ्यास दृढ़ होता है।'

भगवान्‌ने भी कहा है—'जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

अतएव अखण्डरूपसे तथा प्रेमपूर्वक भगवान्‌का चिन्तन करते हुए ही देह एवं जगत्‌के व्यापार करने चाहिये। भगवत्स्मरणयुक्त होनेसे प्रत्येक क्रिया—उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना, पढ़ना-लिखना, व्यापार-व्यवसाय, सेवा-चाकरी आदि-आदि भजन हो जायगी। बस, जीवनमें यही करना है। यह हो गया तो मानव-जीवन सफल है, अन्यथा पछताना-ही-पछताना है।

—'श्रीभाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

मानव-जीवनकी सार्थकता परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लगनेमें है

मनुष्य-जन्म सबसे उत्तम एवं अत्यन्त दुर्लभ और भगवान्‌की विशेष कृपाका फल है। ऐसे अमूल्य जीवनको पाकर जो मनुष्य आलस्य, भोग, प्रमाद और दुराचारमें अपना समय बिता देता है, वह महान् मूढ़ है। उसको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

छः घंटेसे अधिक सोना एवं भजन-ध्यान-सत्सङ्ग आदि शुभ कर्मोंमें ऊँघना 'आलस्य' है। करने-योग्य कार्यकी अवहेलना करना एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना 'प्रमाद' है। शौक, स्वाद और आरामकी बुद्धिसे इन्द्रियके विषयोंका सेवन करना 'भोग' है। झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, जारी आदि शास्त्रविपरीत आचरणोंका नाम 'दुराचार' (पाप) है। अपने हितकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको इन सब दोषोंको मृत्युके समान समझकर सर्वथा त्याग देना चाहिये।

क्लेश, कर्म और सारे दुःखोंसे मुक्ति, अपार, अक्षय और सच्चे सुखकी प्राप्ति एवं पूर्ण ज्ञानका हेतु होनेके कारण यह मनुष्य-शरीर चौरासी लाख योनियोंमें सबसे बढ़कर है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, मुक्ति और शिक्षाकी प्रणाली सदासे बतलानेवाली होनेके कारण यह भारतभूमि सर्वोत्तम है। सारे मत-मतान्तरोंका उद्गमस्थान, विद्या, शिक्षा और सभ्यताका जन्मदाता तथा स्वार्थत्याग, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, क्षमा, दया आदि गुणोंका भंडार, सत्य, तप, दान और परोपकार आदि सदाचारका सागर और सारे मत-मतान्तरोंका आदि और नित्य होनेके कारण वैदिक सनातनधर्म सर्वोत्तम धर्म है।

केवल भगवान्‌के भजन और कीर्तनसे ही अल्पकालमें सहज ही कल्याण करनेवाला होनेके कारण कलियुग सर्वयुगोंमें उत्तम युग है। ऐसे कलिकालमें सभी वर्ण, आश्रम और जीवोंका पालन-पोषण करनेवाला होनेके कारण सभी आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम उत्तम है। यह सब कुछ प्राप्त होनेपर भी जिसने अपना आत्मोद्धार नहीं किया, वह महान् पामर एवं मनुष्यरूपमें पशुके समान ही है। उपर्युक्त सारे संयोग ईश्वरकी अहैतुकी और अपार दयासे ही प्राप्त होते हैं; क्योंकि जीवोंकी संख्याके अनुसार यदि पारीका हिसाब लगाकर देखा जाय तो इस जीवको पुनः मनुष्यका शरीर लाखों-करोड़ों वर्षोंके बाद भी शायद ही मिले। वर्तमानमें मनुष्योंके आचरणोंकी ओर ध्यान देकर देखा जाय, तब भी ऐसी ही बात प्रतीत होती है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर ही मिलना कठिन है और यदि वह मिल जाय तो भी भारतभूमिमें जन्म होना, कलियुगमें होना तथा वैदिक सनातनधर्मका आश्रय प्राप्त होना दुर्लभ है। इससे भी दुर्लभतर शास्त्रोंके तत्त्व और रहस्यके बतलानेवाले पुरुषोंका सङ्ग है। इसलिये जिन पुरुषोंको उपर्युक्त संयोग प्राप्त हो गये हैं, वे यदि परम शान्ति और परमानन्दके निधान परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो इससे बढ़कर उनकी मूढ़ता क्या होगी।

ऐसे क्षणिक, अल्पायु, अनित्य और दुर्लभ शरीरको पाकर जो अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताते, जिनका तन, मन, धन और सारा समय केवल सब लोगोंके कल्याणके लिये ही व्यतीत होता है, वे ही जन धन्य हैं। वे देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। उन्हीं बुद्धिमानोंका जन्म सफल और धन्य है।

प्रथम तो जीवन है ही अल्प; और जितना है, वह भी अनिश्चित है। न जानें मृत्यु कब आकर हमें मार दे। यदि आज ही मृत्यु आ जाय तो हमारे पास

क्या साधन है, जिससे हम उसका प्रतीकार कर सकें। यदि नहीं कर सकते तो हम तो अनाथकी तरह मारे जायँगे। इसलिये जबतक देहमें प्राण हैं और मृत्यु दूर है, तबतक हमलोगोंको अपना समय ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये। शरीर और कुटुम्बका पोषण एवं धनका संग्रह भी, यदि सबके मङ्गलके कार्यमें लगे, तभी करना चाहिये। यदि ये सब चीजें हमें सच्चे सुखकी प्राप्तिमें सहायता नहीं पहुँचातीं तो उनका संग्रह करना मूर्खता नहीं तो और क्या है। देहपातके बाद धन, सम्पत्ति, कुटुम्बकी तो बात ही क्या, हमारी इस सुन्दर देहसे भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा और हम अपने देह और सम्पत्ति आदिको अपने उद्देश्यके अनुसार अपने और संसारके कल्याणके काममें नहीं लगा सकेंगे। सम्पत्ति तो यहाँ ही रह जायगी और देहकी मिट्टी या राख हो जायगी, अतः वह किसी भी काममें नहीं आयेगी।

सब बातें सोचकर हमको अपनी सब वस्तुएँ ऐसे काममें लगानी चाहिये, जिससे हमें पश्चात्ताप न करना पड़े। परम शान्ति, परम आनन्द और परम प्रेमरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें ही इस जीवनको बितानेकी तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्‌की दयाकी कोई सीमा ही नहीं है

दयासागर भगवान्‌की जीवोंपर इतनी अपार दया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। वस्तुतः उन्हें 'दयासागर' कहना भी उनकी स्तुतिके व्याजसे निन्दा करना है; क्योंकि सागर तो सीमावाला है, परंतु भगवान्‌की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान्‌की दयाकी जितनी कल्पना करते हैं, वह उससे भी कहीं बढ़कर है। उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई ऐसा उदाहरण नहीं, जिसके द्वारा भगवान्‌की दयाका स्वरूप समझाया जा सके। माताका उदाहरण दें तो वह भी उपयुक्त नहीं। कारण, दुनियामें असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओंसे ही होती है। उन सारी माताओंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंपर जो दया या स्नेह है, वह सब मिलकर भी उन दयासागरकी दयाके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। ऐसी हालतमें और किससे तुलना की जाय। तो भी माताका उदाहरण इसीलिये दिया जाता है कि लोकमें जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है। माता अपने बच्चेके लिये जो कुछ भी करती है, उसमें उसकी सब दया भरी रहती है। इस बातका बच्चेको भी कुछ-कुछ अनुभव रहता है। जब बच्चा शरारत करता है तो उसके दोष-निवारणार्थ माँ उसे धमकाती-मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है। ऐसी अवस्थामें भी बच्चा माताके ही पास जाना चाहता है। दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा?' वह रोता हुआ कहता है—'माँने!' इसपर वे कहते हैं—'तो अब उसके पास मत जाना।' परंतु वह उनकी बातपर ध्यान न देकर रोता है और माताके पास ही जाना चाहता है। उसे भय दिखलाया जाता है—'माँ तुझे फिर मारेगी' पर इस बातका उसपर कोई असर नहीं होता, वह किसी भी बातकी परवा न करके अपने सरल भावसे माताके ही पास जाना चाहता है। रोता है, परंतु चाहता है माताको ही। जब माता उसे हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शान्त होता है। इस प्रकार माताकी दयापर विश्वास करनेवाले बच्चेकी भाँति जो भगवान्‌के दया-तत्त्वको जान लेता है और भगवान्‌की मारपर भी भगवान्‌को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं। फिर जो भगवान्‌की कृपाको विशेषरूपसे जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है।

'राम ते अधिक राम कर दासा'

दयासागर भगवान्‌की दयाके तत्त्व और रहस्यको यथार्थ जाननेवाला पुरुष भी दयाका समुद्र और सब भूतोंका सुहृद् बन जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।'
(गीता ५ । २९)

इस कथनका रहस्य यही है कि दयामय भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् समझनेवाला पुरुष उस दयासागरके शरण होकर निर्भय हो जाता है तथा परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त होकर स्वयं दयामय बन जाता है। इसलिये भगवान् ठीक ही कहते हैं कि 'मुझको सबका सुहृद् समझनेवाला शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुष ही वास्तवमें संत-पदके योग्य हैं। ऐसे संतोंको कोई-कोई तो विनोदमें भगवान्‌से भी बढ़कर बता दिया करते हैं। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
(मानस ७ । ११९ । ८–८½)

'भगवान् समुद्र हैं तो संत मेघ हैं, भगवान् चन्दन हैं तो संत समीर (पवन) हैं। इस हेतुसे मेरे मनमें ऐसा विश्वास होता है कि रामके दास रामसे बढ़कर हैं।' दोनों दृष्टान्तोंपर ध्यान दीजिये। समुद्र जलसे परिपूर्ण है, परंतु वह जल किसी काममें नहीं आता—न कोई उसे पीता है और न उससे खेती ही होती है। परंतु बादल जब उसी समुद्रसे जलको उठाकर यथायोग्य बरसाते हैं, तब केवल मोर, पपीहा और किसान ही नहीं—सारे जगत्‌में आनन्दकी लहर बह जाती है। इसी प्रकार परमात्मा सच्चिदानन्दघन सब जगह विद्यमान हैं; परंतु जबतक परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले भक्तजन उनके प्रभावका सब जगह विस्तार नहीं करते, तबतक जगत्‌के लोग परमात्माको नहीं जान सकते। जब महात्मा संतपुरुष सर्वसद्गुणसागर परमात्मासे समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्द आदि गुण लेकर बादलोंकी भाँति संसारमें उन्हें बरसाते हैं, तब जिज्ञासु साधकरूप मोर, पपीहा, किसान ही नहीं, किंतु सारे जगत्‌के लोग उससे लाभ उठाते हैं। भाव यह है कि भक्त न होते तो भगवान्‌की गुणगरिमा और महत्त्व-प्रभुत्वका विस्तार जगत्‌में कौन करता। इसलिये भक्त भगवान्‌से ऊँचे हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे सुगन्ध चन्दनमें ही है, परंतु यदि वायु उस सुगन्धको वहन करके अन्य वृक्षोंतक नहीं ले जाता तो चन्दनकी गन्ध चन्दनमें ही रहती, नीम आदि वृक्ष कदापि चन्दन नहीं बनते, इसी प्रकार भक्तगण यदि भगवान्‌की महिमाका विस्तार नहीं करते तो दुर्गुणी, दुराचारी मनुष्य भगवान्‌के गुण और प्रेमको पाकर सद्गुणी, सदाचारी नहीं बनते। इसलिये भी संतोंका दर्जा भगवान्‌से बढ़कर है। वे संत जगत्‌के सारे जीवोंमें समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्दका विस्तार कर सबको भगवान्‌के सदृश बना देना चाहते हैं।

—(संकलित)

माखन-चाखनहारौ सो राखनहारौ

द्रौपदि औ गनिका, गज, गीध, अजामिल सौं कियौ सो न निहारौ।
गौतम-गेहिनी कैसैं तरी, प्रहलाद कौ कैसैं हर्‌यौ दुख भारौ॥
काहे कौं सोच करै रसखानि, कहा करिहै, रविनंद बिचारौ ?
कौन की संक परी है जु माखन-चाखनहारौ सो राखनहारौ॥

—रसखान

श्रीरामनाम-माहात्म्य

[महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजीकी कृपासे प्राप्त]

महाशम्भु-संहितामें

श्रीरामनामाखिलमन्त्रबीजं
संजीवनं चेद् हृदये प्रविष्टम्।
हालाहलं वा प्रलयानलं वा
मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतो भीः॥
रामनामप्रभावेण स्वयम्भूः सृजते जगत्।
बिभर्त्ति सकलं विष्णुः शिवः संहरते पुनः॥
यस्य प्रसादाद्देवेशि मम सामर्थ्यमीदृशम्।
संहरामि क्षणादेव त्रैलोक्यं सचराचरम्॥

निखिलमन्त्रबीज श्रीरामनामरूप संजीवनी बूटी यदि हृदयमें प्रविष्ट हो जाय तो हलाहल विष, प्रलयाग्नि अथवा मृत्युके मुखमें प्रवेश करनेपर भी कोई भय नहीं है।

रामनामके प्रभावसे ब्रह्मा जगत्‌की रचना करते हैं, विष्णु सबका पालन करते हैं और शिव संहार करते हैं।

हे देवेशि! राम-नामके प्रसादसे मुझमें ऐसी सामर्थ्य है कि मैं क्षणमात्रमें सचराचर त्रिभुवनका संहार कर सकता हूँ।

अगस्त्य-संहितामें

अहं भवन्नाम जपन् कृतार्थो
वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मरिष्यमाणस्य विमुक्तयेऽहं
दिशामि मन्त्रं तव रामनाम॥
रकारो रामचन्द्रः स्यात् सच्चिदानन्दविग्रहः।
आकारो जानकी प्रोक्ता मकारो लक्ष्मणः स्वराट्॥
नामसंकीर्तनं चैव गुणानामपि कीर्तनम्।
भक्त्या श्रीरामचन्द्रस्य वचसः शुद्धिरिष्यते॥

भगवान् शंकर श्रीरामसे कहते हैं—मैं तुम्हारा नाम-जप करते हुए कृतार्थ होकर भवानीके साथ काशीमें निरन्तर वास करता हूँ। मरनेवालोंकी मुक्तिके लिये उनके कानोंमें राम-नामरूप मन्त्र प्रदान करता हूँ।

'र' सच्चिदानन्दविग्रह रामचन्द्रजीका स्वरूप है, 'आ' जानकीजी कही गयी हैं और 'म' स्वप्रकाश लक्ष्मणजी हैं।

भक्तिपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीका नाम-संकीर्तन और गुणोंका कीर्तन वाणीको शुद्ध करता है।

विश्वामित्र-संहितामें

राम-रामेति यो नित्यं मधुरं जपति क्षणम्।
सर्वसिद्धिमवाप्नोति सत्यं नैवात्र संशयः॥
धन्याः पुण्याः प्रपन्नास्ते भाग्ययुक्ताः कलौ युगे।
संविहायाथ योगादीन् रामनामैकनैष्ठिकाः॥
सर्वमन्त्रमयं नाम मन्त्रास्पदमनुत्तमम्।
स्वाभाविकीं परां सिद्धिं दुर्लभां तज्जपाल्लभेत्॥
वृथा नानाप्रयोगेषु मन्त्रतन्त्रेषु मानवाः।
यत्नं कुर्वन्त्यहो मूढास्त्यक्त्वा श्रीरामसुन्दरम्॥
अन्धानां नेत्रमुत्कृष्टं स्वच्छं श्रीनाममङ्गलम्।
बधिराणां तथा कर्णौ पङ्गूनां हस्तपादकौ॥

जो क्षणमात्र भी नित्य 'राम-राम'—इस मधुर नामका जप करता है, वह सचमुच सब प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त करता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। कलियुगमें धन्य, पुण्यवान् और भाग्यशाली वे शरणापन्न लोग हैं, जो योग-ज्ञान-कर्म आदि मार्गोंको त्यागकर एकमात्र राम-नाममें परिनिष्ठित हैं।

नाम सर्वमन्त्रमय है, वह मन्त्रका भी सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा-स्थान है, नाम-जपसे मनुष्य दुष्प्राप्य स्वाभाविकी परा सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

अहा! सुन्दर श्रीराम-नामको त्यागकर मूढ़ मानव नाना प्रकारके अनुष्ठान और मन्त्र-तन्त्रमें व्यर्थ यत्न करता रहता है।

कल्याणजनक श्रीरामनाम अंधोंके लिये उत्कृष्ट निर्मल नेत्र है, बहरोंके लिये कर्णयुगल तथा पङ्गुओंके लिये हाथ-पैर है।

सौर-संहितामें

श्रीरामनाम सततं परिकीर्त्तनीयं
वर्तेत मोदसुनिधानमशेषसारम्।
जन्मार्जितानि विविधानि विहाय दुःखा-
न्यत्यन्तधर्मनिचयं परधाम याति॥

आनन्दके सुन्दर आकर तथा सबके साररूप श्रीरामनामका निरन्तर सर्वतोभावेन कीर्तन करना चाहिये। इसके द्वारा बहुजन्मार्जित विविध प्रकारके दुःखोंका त्याग कर तथा आत्यन्तिक (स्थायी) धर्मसमूहको प्राप्तकर जीव अन्तमें परमधामको गमन करता है।

जाबालि-संहितामें

रामनामप्रभा दिव्या यस्योरसि प्रकाशते।
तस्यास्ति सुलभं सर्वं सौख्यं सर्वेशजं फलम्॥
नाम्नि यस्य रतिर्नास्ति स वै चण्डालतोऽधिकः।
सम्भाषणं न कर्तव्यं तस्समं नामतत्परैः॥

रामनामकी अलौकिक प्रभा जिसके हृदयमें प्रकाशित है, उसको सर्वेशकी कृपादृष्टिके फलस्वरूप सारे सुख सुलभ हो जाते हैं। इसके विपरीत, जिसका नाममें अनुराग नहीं है, वह व्यक्ति चण्डालसे भी अधम है। नाम-परायणजनोंके लिये उसके साथ बात करना भी उचित नहीं।

ब्रह्म-संहितामें

रामेति वर्णद्वयमादरेण
सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः।
कलौ युगे कल्मषमानसाना-
मन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥

'राम'—इन दो अक्षरोंका सतत आदरपूर्वक स्मरण करते हुए जीव मुक्तिलाभ करता है। कलियुगमें मलिन चित्तवालोंका [धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध आदि] अन्य धर्मोंमें (सामर्थ्यहीनताके कारण) अधिकार नहीं है।

तापनीय-संहितामें

स्वप्नेऽपि यो वदेन्नित्यं रामनाम परात्परम्।
सोऽपि पातकराशीनां दाहको भवति ध्रुवम्॥

जो मनुष्य स्वप्नमें भी परात्पर राम-नामका नित्य उच्चारण करता है, वह निश्चय ही पाप-समूहको दग्ध कर देता है।

हिरण्यगर्भ-संहितामें

अभिरामेति यन्नाम कीर्तितं विवशैश्च यैः।
तेऽपि ध्वस्ताखिलाघौघा यान्ति रामास्पदं परम्॥

जो बरबस—'अभिराम' कहकर अर्थात् 'अभिराम' शब्दका उच्चारण करके भी राम-नामका कीर्तन करते हैं, वे भी सम्पूर्ण पापोंका नाश करके श्रेष्ठ रामपदको प्राप्त होते हैं।

पुलह-संहितामें

सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मीर्नारायणेन च।
शम्भुना रामनामेति पार्वती जपति स्फुटम्॥
रकारोच्चारणेनैव बहिर्निर्यांति पातकम्।
पुनः प्रवेशकाले च मकारस्तु कपाटकम्॥

सावित्री ब्रह्माके साथ, लक्ष्मी नारायणके साथ और पार्वती शंकरके साथ रामनाम स्पष्टरूपसे जपती हैं।

'र'कार उच्चारण करते ही पाप बाहर निकल जाता है, और उसके पुनः प्रवेशके समय 'म'कार कपाटके समान होकर उसको प्रवेश नहीं करने देता।

पतञ्जलि-संहितामें

कलौ युगे राघवनामतः सदा
परं पदं यान्ति विना प्रयत्नम्।
सर्वैर्युगैः पूजितमुन्नतं युगं
समस्तकल्याणनिकेतनं परम्॥

कलियुग सब युगोंके द्वारा पूजित और उन्नत युग है तथा समस्त कल्याणका श्रेष्ठ निकेतन है। इस कलियुगमें बिना प्रयत्नके रामनामके द्वारा मनुष्य परमपदको प्राप्त होता है।

सनत्कुमार-संहितामें

श्रीराम-रामेति जना ये जपन्ति च सर्वदा।
तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः॥
मानसं वाचिकं पापं कर्मणा समुपार्जितम्।
श्रीरामस्मरणेनैव तत्क्षणान्नश्यति ध्रुवम्॥
श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।
ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः॥

जो मनुष्य सदा श्रीराम-नामका जप करते हैं, उनको भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है।

मानस, वाचिक और कर्मजनित पाप श्रीरामके स्मरणमात्रसे तत्काल निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाते हैं।

वेदवेत्ता कहते हैं कि श्रीराम-नाम, जो 'तारक ब्रह्म' भी कहलाता है, ब्रह्महत्या आदि पापोंका नाश करनेवाला है, वह जप करनेयोग्य मन्त्रोंमें सर्वश्रेष्ठ है।

सुश्रुत-संहितामें

रामनाम्नः परं किंचित्तत्त्वं वेदे स्मृतिष्वपि।
संहितासु पुराणेषु नैव तन्त्रेषु विद्यते॥
कारणं प्रणवस्यापि रामनाम जगद्गुरुः।
तस्माद् ध्येयं सदा चित्ते यतिभिः शुद्धमानसैः॥

वेद-स्मृति, संहिता-पुराण और तन्त्रोंके भीतर राम-नामसे श्रेष्ठ कोई भी तत्त्व नहीं है।

प्रणवका भी कारण जगद्गुरु राम-नाम है, अतएव शुद्धचित्त यतिगणको निरन्तर चित्तमें राम-नामका ध्यान करना चाहिये।

एक महात्माका प्रसाद

मानव आध्यात्मिक और नैतिक साधनाका प्रतीक है। आध्यात्मिक साधना और नैतिक साधना एक ही जीवनके दो पहलू हैं। आध्यात्मिकताकी उपेक्षासे नैतिक साधना निर्जीव हो जायगी और नैतिकताके बिना आध्यात्मिकता शून्य हो जायगी, जो मानव-समाजको अभीष्ट नहीं है।

आध्यात्मिकताका अर्थ है—अपनेमें अपने जीवन-को पा जाना, अर्थात् स्वाधीन होकर अमरत्वसे अभिन्न होना और सभीके लिये उदार होना एवं नैतिकताका अर्थ है—पर-पीड़ासे पीड़ित होकर स्वभावसे सेवापरायण होना। नैतिकता मानवको बुराईसे रहित कर देती है और आध्यात्मिकता भलाईके अभिमानसे रहित कर देती है। जब दोषकी उत्पत्ति नहीं होती और गुणोंका अभिमान नहीं होता, तभी परिच्छिन्नता मिट जाती है और व्यापकता आ जाती है, जो मानवमात्रकी अपनी माँग है।

आध्यात्मिकता और नैतिकता जीवनके प्रत्येक पहलूमें रहनी चाहिये। प्रत्येक कर्तव्यकर्ममें आध्यात्मिकताका प्रकाश हो, तभी नैतिकता व्यापक होती है। आध्यात्मिकता और नैतिकतामें विभाजन भ्रम है।

आध्यात्मिकता और नैतिक साधना ज्यों-ज्यों स्थायी होती जाती हैं, त्यों-त्यों मानव सभीके लिये उत्तरोत्तर उपयोगी होता जाता है, अर्थात् मानव-जीवन अपने लिये और जगत्के लिये मङ्गलमय और हितकर होता जाता है। जीवन और विधानमें एकता हो जाती है। सत्यसे दूरी-भेद-भिन्नता शेष नहीं रहती। आध्यात्मिकतामें अचाह और उदारता निहित हैं। अचाहसे मानव अपने लिये और उदारतासे जगत्के लिये उपयोगी हो जाता है।

'मुक्ति'का अर्थ है—अपनेमें अविनाशी जीवनको प्राप्त करना, अर्थात् अपने लिये किसी प्रकारकी परापेक्षाका न रहना। उसी जीवनसे समाजमें वह चेतना आती है, जिससे भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें प्रत्येक मानव स्वाधीनताकी प्रेरणा पाता है। पराधीनतामें जीवन-बुद्धि होनेसे ही समाज बन्धनमें है। स्वाधीनता प्राप्त किये बिना पर-सेवा सम्भव नहीं है। पराधीन मानव ही सेवाके अन्तमें स्वयं भोगी हो जाता है। इसी दृष्टिसे स्वयं मुक्त हुए बिना न तो समाजको मुक्तिकी प्रेरणा ही मिलती है और न सही उदारता ही आती है। समाज हमें ईमानदार तथा उदार देखना चाहता है। जो स्वयं पराधीनतामें आबद्ध है, वह समाजके लिये कभी भी उपयोगी सिद्ध नहीं होता। स्वाधीन हुए बिना मानव की हुई भलाईका फल माँगने लगता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। व्यक्तिका अपना कल्याण और सुन्दर समाजका निर्माण एक ही जीवनके दो पहलू हैं। अपने निर्माणके बिना समाजका निर्माण सम्भव नहीं है। कर्म, चिन्तन और स्थितिसे असङ्ग होनेमें ही अपना कल्याण है, अर्थात् मुक्त पुरुषको अपने लिये सर्व-हितकारी प्रवृत्ति, सार्थक चिन्तन तथा निर्विकल्प स्थितिसे भी कुछ नहीं चाहिये। जिसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये, वही सभीके लिये उपयोगी हो जाता है। अतः सर्वहितकारी सेवाके लिये अपनेको अचाह करना अनिवार्य है।

मुक्ति साधकको अचाह कर देती है। इस दृष्टिसे स्वयं मुक्त होनेपर ही मानव समाजको मुक्त होनेकी प्रेरणा दे सकता है। मुक्त पुरुषका जीवन समाजके लिये पथ-प्रदर्शक होता है। वस्तुतः मुक्ति उसीको मिलती है, जो मुक्त होना चाहता है। व्यक्तिगत मुक्ति समाजरूपी ट्रेनका इंजन है और मुक्त हुए बिना समाज-की मुक्तिकी बात करना अपनेको बहलाना है। व्यक्ति-निर्माणसे समाज-निर्माण होता है, यह अनुभव सिद्ध

सत्य है। लोभरहित होनेसे उदार, मोहरहित होनेसे अभय, कामरहित होनेसे शान्त और सङ्गरहित होनेसे अर्थात् स्वाधीन होनेसे ही सुन्दर समाजका निर्माण सम्भव है। लोभरहित हुए बिना दान आदिकी प्रवृत्ति तो दम्भपूर्वक भी हो सकती है, किंतु लोभ-मोह आदि विकारोंसे रहित होनेमें दम्भ नहीं चल सकता।

समाजकी मुक्तिका स्वरूप है ऐसा समाज, जिसे सरकार, न्यायालय और सेनाकी आवश्यकता न हो, जहाँ अधिकार-लालसासे रहित होकर केवल कर्तव्यपरायणता आ जाय, समाजमें इतनी चेतना आ जाय कि वह निज-ज्ञानके प्रकाशमें रहने लगे, अपनेसे अपनेको समझा सके और अपनेपर अपना शासन कर सके। पर यह तभी होगा, जब समाजमें कुछ ऐसे व्यक्ति हों, जिन्होंने अपनेको अपने द्वारा स्वाधीन करके उदार तथा प्रेमी बना लिया हो। उनके सम्पर्कसे समाज मुक्त हो सकता है। यही समाजकी मुक्तिका अचूक उपाय है।

ब्रह्मलीन श्रीपुनीतजी महाराजके पुनीत उपदेश

(संतानमात्रके प्रति)

१–तुम और सब कुछ भले ही भूल जाना, अपने माँ-बापको कभी न भूलना।

२–उनके तुमपर अगणित उपकार हैं, इसे निरन्तर याद रखना।

३–न जाने कितने देवी-देवताओंकी मनौती मनानेके बाद उन्हें तुम्हारा मुख देखनेको मिला।

४–ऐसे पुनीत गुरुजनोंके कलेजोंको पत्थर बनकर छेदना नहीं।

५–अपने मुँहका ग्रास तुम्हारे मुँहमें देकर उन्होंने तुम्हें पाला-पोसा था।

६–इस प्रकार अमृतका दान करनेवालोंके प्रति कभी विष न उगलना।

७–तुम्हारे माता-पिताने तुमको लाखों प्रकारसे लाड़ लड़ाया और तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी कीं; इस प्रकार तुम्हारी इच्छाओंको पूर्ण करनेवालोंकी इच्छाओंको मत ठुकराना।

८–भले ही तुम लाखों रुपये कमाते हो, परंतु यदि माता-पिताकी आत्माको तुमने तृप्त नहीं किया तो तुम्हारे कमाये हुए लाखों रुपये राखके समान हैं।

९–यदि तुम अपनी संतानसे सेवाकी आशा करते हो तो तुम जिनकी संतान हो, उनकी सेवा करना तुम्हारा कर्तव्य है।

१०–तुम माता-पिताके प्रति जो कुछ करोगे, उसीका बदला तुम्हें मिलेगा।

११–याद रक्खो—तुम्हारे माता-पिताने स्वयं गीले वस्त्रोंमें सोकर तुम्हें सूखे वस्त्रोंपर सुलाया था।

१२–उनके अमृत-रससे भरे नेत्रोंको भूलकर भी आँसुओंसे गीले न करना।

१३–जिन्होंने तुम्हारे मार्गमें सदा प्रेम-प्रसून बिछाये हैं, उनके मार्गके कभी कण्टक न बनना।

१४–धन खरचनेसे भले ही और सब कुछ मिल जाय, परंतु गये हुए माता-पिता नहीं मिल सकते।

१५–एक क्षणके लिये भी उन माता-पिताके चरणोंकी स्मृतिको न भूलना।

ऊखल-बन्धन-लीला

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृष्ठ ११८५ से आगे]

माताके चले जानेपर श्रीकृष्णके मनमें कोपका संचार हुआ। प्रलयके समय ईश्वरके कोपसे ही संहार-क्रिया होती है। अतः ईश्वरके साथ कोपका मेल नहीं है—यह सोचना असंगत है। माता छोड़कर चली जाय और बालक असङ्ग—उदासीन रहे, उपेक्षा कर दे तो उसके हृदयमें माताके प्रति प्रेमकी न्यूनता है। शिशु अपना है तो माता भी अपनी है, वह क्यों चली जाय? आचार्य वल्लभका कहना है कि श्रीकृष्णके हृदयमें बहुत-से बालक विद्यमान हैं। उनकी रक्षा एवं संवर्धनके लिये वे उन्हें पुष्टि दे रहे थे। भक्तिमार्गके अनुसार माताके द्वारा उसमें बाधा डाली गयी। अतएव कोपका उदय हुआ। कोपके अनुभाव प्रकट हुए। होंठ लाल-लाल होकर फड़कने लगे। लाल-लाल होना रजोगुण है और फड़कना कुछ बोलनेके लिये उद्योग है। कोप और यशोदाके बीचमें भगवान्‌के अधरमें स्थित लोभ प्रकट हो गया। मानो वह कह रहा हो,—'दोष माताका नहीं, मेरा है। आपमें अतृप्ति—लोभ है और मातामें दूधकी रक्षाका लोभ है। आप मुझे दण्ड दीजिये, माताको नहीं।' कृष्णने दोनोंके लिये दण्ड-विधान किया। रक्तवर्ण रजोगुणको श्वेत-वर्ण सत्त्वगुणरूप दाँतोंसे दबा दिया। श्वेतिमा सात्त्विक ब्राह्मण है। रक्तिमा राजस क्षत्रिय है। दाँत द्विज हैं। सत्त्व-गुणके द्वारा रजोगुणको अथवा ब्राह्मणके द्वारा क्षत्रियको शिक्षा दी गयी। माताके लिये भी दण्ड-विधान हुआ। शैशवमें ऐसा होता है। दूधके लोभसे मुझे छोड़कर गयी तो दूध-दहीकी और भी हानि उठानी पड़ी, यज्ञायुध (दृषदश्मा) लोढ़ेसे भागवतयज्ञमें बाधक भाण्डासुरको भग्न कर दिया।

श्रीकृष्णने मन-ही-मन कहा—'जब मनुष्य यशोदया-विहीन होता है अर्थात् यश-दयासे रहित होता है, तब उसके ऐसे ही कृत्य होते हैं। मानो श्रीकृष्णने यहींसे शिक्षा लेकर गीतामें कहा हो—'कामी दीन हो जाता है, लोभी पुत्रके प्रति भी निर्दय होता है, क्रोधीका विवेक नष्ट हो जाता है; अतः काम, लोभ और क्रोध—तीनोंका परित्याग करना चाहिये। इस बातको विस्तारसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है।

परंतु यह क्रोध और ये आँसू मिथ्या हैं, इसका प्रमाण क्या है? तत्काल एक व्यवहित स्थानपर जाकर नवनीतका आस्वादन करने लगते हैं। क्रोध और आँसूके साथ भोजनका मेल नहीं है। सच्चे आँसू आ रहे हों तो उदानवायुकी प्रबलताके कारण निगलनेकी क्रिया नहीं हो सकती। वे अपना विनोद प्रकट कर रहे हैं। बालकोंको भोजन दे रहे हैं और माताको उलाहना दे रहे हैं।

माताने शान्तिसे दूधको परिपक्व करके भगवद्भोग्य बना दिया। उसे अग्नितापसे मुक्त करके उतार दिया—पार कर दिया। भागवतका काम पूरा हुआ। लौटकर आयी, देखा, मटका फूटा हुआ है, अपने पुत्रका कर्म। हँसी आ गयी। जलते हुए दूधको तारा माताने। मटकेरहित दधिको तारा भगवान्‌ने। दैवगतिसे हानि देखकर माताको हँसी आ गयी। भला, होनीको कौन टाल सकता है। किसीने कहा भी है—

> पीयूषेण सुराः श्रिया मुररिपुर्मर्यादया मेदिनी
> शक्रः कल्परुहा शशाङ्ककलया श्रीशंकरस्तोषितः।
> मैनाकादिनगा निजोदरगृहे यत्नेन संरक्षिता-
> स्तच्चूलीकरणे घटोद्भवमुनिः केनापि नो वारितः॥

'समुद्रने अमृतके द्वारा देवताओंकी, लक्ष्मीके द्वारा भगवान् विष्णुकी, मर्यादा-स्थापनके द्वारा पृथिवीकी, कल्प-वृक्षसे इन्द्रकी, चन्द्रकलासे शंकरकी सेवा की; उन्हें संतुष्ट किया। अपने उदर-गृहमें बसाकर यत्नपूर्वक मैनाकादि पर्वतोंको संरक्षण दिया। परंतु जब अगस्त्य मुनि उसको पीने लगे, तब किसीने उनको रोका नहीं, उसकी रक्षा नहीं की।'

माताको हँसी क्यों आयी? भाण्डासुर मर चुका था। क्रोध आनेका कोई कारण नहीं था। थोड़ेकी रक्षाके लिये गयी और बड़ी हानि हुई, क्या आश्चर्य है? पुत्र माताकी सम्पत्ति-की रक्षा करता है और हमारे घरमें ऐसा लाला आया जो अपने हाथों सम्पदाको बिगाड़ता है। हँसनेका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण डरकर कहीं भाग न जाय।

ऊखल उलटा करके रखा हुआ था। वह अग्नि-नाभि है। सुपर्ण-चयनमें यज्ञपुरुषके समान भगवान् ऊपर बैठ

गये। मर्कटोंको बासी मक्खन देने लगे। अतिरिक्त वस्तु अतिरिक्तको देनेसे अतिरिक्तकी शान्ति हो जाती है। दानमें यथेष्टता थी। इस चोरीके कर्ममें नेत्र विशङ्कित हैं। यशोदा धीरे-धीरे पीछेसे आ रही हैं। पीछेसे आनेके कारण श्रीकृष्ण-के पृष्ठमें स्थित अधर्मका दर्शन होता। श्रीसुदर्शनसूरि एवं श्रीवीरराघवाचार्यने यहाँ 'मर्क' शब्दका अर्थ मर्कट, मार्जार एवं व्रजके सखा लिखा है। किसी-किसीने मर्क अर्थात् माखनके लिये आये हुए सखा—यह अर्थ किया है।

श्रीहरिसूरि कहते हैं कि यह उलूखल नहीं, खल है। माताके द्वारा पुत्रकी उपेक्षा होनेपर खल-संगति स्वाभाविक है। खल भी अभिमानीके साथ टकराता है और विनयीके साथ मेल-जोल कर लेता है। मानो इसी दृष्टिसे श्रीकृष्ण ऊखलके निचले भागपर, जो उलटा होनेके कारण ऊपर हो गया था, बैठ गये। खल-वशीकारके लिये उसका चरण-स्पर्श विहित है। और भी, खल-सङ्ग प्राप्त होनेपर भी उदार पुरुषके सौजन्य—शील-स्वभावमें अन्तर नहीं पड़ता। ऊखलपर बैठे हुए श्रीकृष्ण भी उदारतापूर्वक दान कर रहे हैं। श्रीकृष्णने स्पन्दमान रोषका स्पर्श किया था। उसके दोषका मोष (नाश) करनेके लिये दान कर रहे हैं। दान ही दोष-शोषक है।[1] श्रीकृष्णके मनमें है—'मैं वानरोंको भी नवनीतामृत सुलभ करनेके लिये पृथिवीपर आया हूँ। भजन करो और अमृत लो। ये वानर हमारे रामावतारके सखा, सहायक एवं सेवक हैं।' इसीलिये अमृतका वितरण हो रहा है।

हाथमें गाय हाँकनेकी छड़ी लेकर मैया दौड़ी। श्रीकृष्ण-ने भलीभाँति उसका भाव भाँपकर भीतके समान भागना प्रारम्भ किया। योगियोंका तपःपूत अतएव प्रवेशक्षम मन भी जिनको प्राप्त नहीं कर सकता, पकड़नेके लिये माँ उन्हें खदेड़ रही है।

श्रीकृष्णनिष्ठ स्नेह और मातृनिष्ठ स्नेहमें स्पर्धा हो गयी। माँने मनमें विचार किया कि 'मैं अपने शिशुकी सब बुराइयाँ सह सकती हूँ, परंतु खलसंगति नहीं; इसलिये गाय हाँकनेवाली छड़ी लेकर दौड़ी।' श्रीकृष्णने कहा—'जिसके मनमें क्रोध है, उसकी बुद्धि चाहे कितनी अच्छी हो, मैं उससे मिल नहीं सकता। तमोगुणीसे दूर रहना चाहिये। इसलिये मैं भागता हूँ।'[2]

श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़नेमें भी माताकी विशेष शोभा है। विजयध्वजतीर्थने 'अन्वञ्चमाना' पदका विवरण करते हुए कहा है कि यशोदाके दौड़नेमें एक पूजनीय गति है, हँसीकी-सी गति है। 'अञ्चु' धातुका अर्थ गति और पूजा है। भगवान्‌के पीछे दौड़ने मात्रसे ही केशके बन्धन टूट गये; प्रसूना—हिंसाके भाव च्युत हो गये। अन्तःकरणकी शुद्धि हो गयी। संतकी अनुगतिसे कल्याण होता है, भगवन्तकी अनुगतिसे तो कहना ही क्या, अनुगतिका फल है—श्रीकृष्णका स्पर्श।

माँने उन्हें पकड़ लिया। जगत्‌का स्वामी, जिसे कभी कोई अपराध छू नहीं सकता, आज अपराधीके कठघरेमें खड़ा है। फफक-फफककर रो रहा है। एक हाथसे बार-बार नेत्रोंके कज्जलमिश्र अश्रु पोंछ रहा है। भय-विह्वल नेत्र ऊर्ध्वमुख हो गये हैं। हाथ पकड़कर माँने धमकाया। ये सब भगवान्‌के रूप हैं—अपराधी, रोनेवाला, भय-विह्वल। जो उन्हें पहचानते हैं, वे सब रूपोंमें पहचानते हैं। भगवत्स्पर्शी अपराध, रोदन और भय भी धन्य हैं। माँने पीटा नहीं, धमकाया—'मनचले! क्रोधी! लोभी! चञ्चल! चोर!' नये नाम रख दिये। 'ऐसा बाँधके रख दूँगी कि बाहर जा न सकोगे, माखन खा न सकोगे, सखाओंसे मिल न सकोगे।' कृष्णने कहा—'मैं तुम्हारा लगाया हुआ काजल भी पोंछ दूँगा। मैं तुम्हारे हाथसे आँसू नहीं पोंछवाऊँगा, स्वयं पोंछ लूँगा।' वे अपने नेत्र स्वयं स्वच्छ करते हैं और उनकी क्रियासे यशोदाके नेत्र तथा उनमें भगवत्प्रतिबिम्ब स्वच्छ होता है। यही भक्तिकी विशेषता है। रजोगुण-तमोगुण नष्ट हो गये।

माताने छड़ी फेंक दी। बालकको भयभीत करना उचित नहीं। उसके प्रति भीषणता उचित नहीं; वात्सल्य ही योग्य है। अन्तमें उसने उसे बाँधकर रखनेका निश्चय किया। कृष्णने कहा—'मुझे ताड़ना मत दो।' माँने कहा—'यदि ताड़नसे डरते हो तो आज दादी-सासके समयका दधि-माण्ड क्यों फोड़ दिया?' कृष्ण—'अच्छा, अब ऐसा कभी नहीं करूँगा।' माँ—'ले छड़ी फेंक दी।' देखिये, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका श्लोक—

---

१. न हीयते वदान्यस्य सच्छीलं खलसङ्गतः।
उलूखलकृतावासोऽप्यौदार्याच्च च्युतोऽच्युतः॥
दानमेव जने यावद्दोषदोषापघमोपकम्।
भवतीत्यच्युतो युक्तं तद्दानं तत्कृतेऽकरोत्॥

२. अकृत्यमपि मे सर्वं सह्यमस्य परंतु न।
उलूखलाङ्घ्रिभजनमित्यागात् सा सयष्टिका॥
क्षिप्यद्दोषं मनो यावत् तावदीशः पराङ्मुखः।
सूक्ष्मवैत्राश्रितस्यापि भवेदित्यभवत् स्फुटम्॥
(भक्तिरसायन)

ताडने यदि तवातिशया भी-
स्तत् किमद्य दधिभाण्डमभाङ्क्षीः ।
मातरेवमथ नैव करिष्ये
पातय स्वकरतो बत यष्टिम् ॥

श्रीहरिसूरिने 'भक्तिरसायन'में 'माता अपने बलका प्रयोग कर रही है स्नेहकी अधिकतासे तो मैं भी अपना बल-स्नेहकी अधिकता दिखाऊँ। स्नेहपर स्नेह ही सफल होता है। 'रोदन ही शिशुका बल है'---ऐसी उत्प्रेक्षा की है। 'मेरे नेत्रमें स्थित हैं—सूर्य और चन्द्रमा। वे हमारे वंशके आदि भी हैं। उनके साथ कज्जल-कलङ्क-कालिमाका सम्बन्ध उचित नहीं है'—यही सोचकर उन्हें स्वच्छ करते हैं, उन्हें उकसाते हैं—'तुम साक्षी हो। किसी कर्मके कर्ता नहीं हो। तुमलोग मेरी माँको यह बात समझा दो।'

'श्रीभक्तिरसायन'में श्रीहरिसूरिने इस प्रसङ्गमें एक बड़ा ही सुन्दर भाव प्रकट किया है—मनुष्य चाहे जितना साधन-सम्पन्न हो, ओजस्वी हो, अपनी मलिनता मिटानेके लिये उसे दूसरेकी आवश्यकता होती है। प्रकाशमान सूर्य और चन्द्रमा सहस्रकर हैं। साथ ही, भगवान्‌के नेत्रके रूपमें अथवा नेताके रूपमें स्थित हैं; तथापि भगवद्‌हस्तावलम्बके बिना उनके कलङ्क-कज्जलका मार्जन नहीं हुआ।[1]

श्रीकृष्णने विचार किया कि संतोंने मेरी नाम-महिमाका इस रूपमें गान किया है कि "'श्रीकृष्ण' नाम षड्‌रिपुओंका नाशक है। क्रोधका अवरोधक मैं सम्मुख खड़ा हूँ और माँके हृदयमें रोषका संचार हो रहा है। यह मेरी नामकीर्तिके विपरीत है।" इसीसे श्रीकृष्णके नेत्र भय-विह्वल हो गये।[2]

माँके हृदयमें वात्सल्यका उदय हुआ श्रीकृष्णको भयभीत देखकर। जैसे गैया-मैया जब अपने सद्योजात शिशुको मूत्रादिसे लथपथ एवं जरायु-परिवेष्टित देखती है तो वह उसे चाटने लगती है, वत्सला हो जाती है, उसका हृदय वात्सल्य-स्नेहसे भरपूर होकर छलकने लगता है, वैसे ही यशोदामाताका हृदय वात्सल्यसे उल्लसित हो गया। उसने अपने हाथसे बछड़ेको डरानेवाली छड़ी फेंक दी। 'ठीक ही है—तभीतक हृदयमें जडता और हाथमें छड़ी रहती है, जब-तक चेतनकी प्राप्ति न हो—पवित्र चेतनाका जागरण न हो। श्रीकृष्णका हाथ पकड़ना और अपने हाथमें जड छड़ीको रखना एक साथ शक्य नहीं है।'[3]

देखिये, श्रीकृष्णका हृदय। 'मुझे अपने हृदयकी गोदमें लेकर स्नेह-मोद देकर यदि कोई पुनः क्षुद्र कर्ममें लग जाय तो अवश्य ही उसकी अर्थ-क्षति और मेरी दूर-स्थिति हो जायगी। परंतु यदि वह फिर मेरे पास लौट आये तो मैं उसे सुलभ हो जाता हूँ।'[4]

'यद्यपि मैं बुद्धिके पेटमें अँटनेवाला नहीं हूँ, तथापि जो दूसरे काम छोड़कर मेरा अनुगत होता है, मेरे पीछे-पीछे दौड़ता है उसे मैं सुलभ हो जाता हूँ।'[5] यशोदा माताने विचार किया—'गर्गाचार्यने अनामीको नामके घेरेमें ले लिया। श्रुतिके अनुसार नाम और दाम (रस्सी) एक ही हैं। अतः अब इसको बाँध लेना—दामोदर बना देना सुगम है।'[6]

माताके मनमें भगवान् श्रीकृष्णको बाँधनेकी इच्छा उदित हुई। ऐसा क्यों हुआ? भगवान्‌के स्वरूपमें बन्धन नहीं है। क्या यशोदा भगवान्‌के इस सामर्थ्यसे अपरिचित है? शुकदेवजी कहते हैं कि 'हाँ अपरिचित है।' तब क्या वह पूतना, तृणावर्त आदिके वधका ऐश्वर्य-वीर्य देखकर भी न पहचान सकी? यही प्रेमका सामर्थ्य है। वह प्रियतमके माधुर्यको पहचानता है, ऐश्वर्यको नहीं। मूलमें कहा गया है कि भगवान्‌में भीतर-बाहर, पूर्वापरका भेद नहीं है। वे ही बाह्याभ्यन्तर, पूर्वापर एवं जगत् भी हैं। वे अजन्मा और अव्यक्त हैं, इन्द्रियातीत हैं। फिर भी मनुष्यरूपमें प्रकट श्रीकृष्णको गोपीने रस्सीसे ऊखलमें इस प्रकार बाँध दिया, मानो कोई प्राकृत शिशु हो।

श्रीधर स्वामीने कहा है—बन्धन तो उसका हो, जिसको बाहरसे चारों ओरसे लपेटा जा सके और वह रस्सीके घेरेमें आ जाय। एक ओरसे रस्सी पकड़ें और दूसरी ओरसे

१. नानासाधनशालिनोऽपि पुरुषस्यौजस्विनः स्वात्मनो
मालिन्यापहृतावपेक्षणपरापेक्षेति युक्तं यतः ।
भास्वच्चन्द्रमसोः सहस्रकरयोरप्यत्र नेत्रात्मनो-
रासीदञ्जनमार्जनं न भगवद्धस्तावलम्बं विना ॥

२. तवाभिधानं षड्रिपुभञ्जकं ब्रुवीति सद्भिर्यदहं प्रकीर्तितः ।
मयि स्थिते द्वेषिणि रोषसम्भवः कथं जनन्यामिति ताद्दृशेक्षणः ॥

३. तावज्जडाश्रयो युक्तो न यावच्चेतनागमः ।
युक्तं श्रीशकरं धृत्वा सा जहौ यष्टिकां जडाम् ॥

४. मदीयं संतोषं सुफलदमसम्पाद्य मनुजो
यदि क्षुद्रे किंचित्फलिनि दिनकर्मण्यभिरतः ।
भवित्री तस्यार्थक्षतिरपि च दूरस्थितिरहं
पुनर्मद्गामी चेत् प्रतिपदमहं तस्य सुलभः ॥

५. बुद्ध्यग्राह्योऽप्यहमिह सुलभस्तस्यासि यस्तु मदनुगतः ।
उज्झितकर्मेत्थाशयमबोधयन् मातृहस्तगो हि हरिः ॥

६. गर्गोक्तनामबद्धेऽस्मिन् सुकरं दामबन्धनम् ।
इत्यैषीत् सा नामदामपर्यायैकार्थदर्शिनी ॥

मिला दें। यहाँ भगवान् सर्वथा उसके विपरीत हैं। व्याप्य व्यापकको बाँध नहीं सकता और फिर दूसरा कोई हो तो बाँधे। जब भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब कौन किसको बाँधे ? फिर भी यशोदाने मनुष्यरूपमें प्रकाशमान इन्द्रियातीतको अपना पुत्र मानकर बाँध लिया।

श्रीजीवगोस्वामीका अभिप्राय है कि श्रीकृष्ण व्यापक हैं, इसलिये उनके बाहर कुछ नहीं है। बाहरके प्रतियोगीके रूपमें प्रतीयमान अन्तर भी नहीं है। पूर्वापरकी भी यही दशा है। वे ही जगत् हैं अर्थात् कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं होता। देश-काल-वस्तु वे ही हैं। उनकी शक्तिसे ही जगत्‌की शक्ति है। ऐसी अवस्थामें उनकी शक्तिका एक क्षुद्र अंश रस्सी उन्हें कैसे बाँध सकती है ? क्या स्फुलिङ्ग (चिनगारी) अग्निको जला सकते हैं ? परंतु यशोदामाताने कृष्णको बाँध लिया। वे अधोक्षज (इन्द्रियातीत) होनेके साथ-ही-साथ मनुष्य-वेषधारी भी हैं। 'नारायणाध्यात्मम्' में कहा गया है कि 'अव्यक्त भगवान् अपनी शक्तिसे ही दर्शनके विषय होते हैं। उन्हें दूसरा कोई अपनी शक्तिसे नहीं देख सकता।' श्रुति कहती है—'देवता और इन्द्रिय उसके बनाये हुए—उससे उत्पन्न हैं। वे अपने पूर्ववर्ती अनुत्पन्न कारणको नहीं जान सकते।' मध्वाचार्यने भगवान्‌को अस्थूल-स्थूल, अनणु-अणु एवं अवर्ण-श्यामवर्ण कहा है। अर्थात् उनमें परस्पर-विरोधी धर्म हैं। श्रीनृसिंहतापनी श्रुति कण्ठतः घोषणा करती है—

'तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्।'

तुरीय-अतुरीय, आत्मा-अनात्मा, उग्र-अनुग्र, वीर-अवीर, महान्-अल्प, विष्णु-अविष्णु, प्रदीप्त-शान्त, व्यापक-अव्यापक—सब भगवान् ही हैं। गीतामें 'मत्स्थानि' एवं 'न च मत्स्थानि' एक साथ ही हैं। वे विरुद्ध-अविरुद्ध अनन्त शक्तियोंके निधान हैं और उनकी प्रत्येक शक्ति अचिन्त्य है। अतः बन्धनकी असम्भावना और सम्भावना दोनों ही उनमें युक्तियुक्त हैं। दोनों एक साथ ही संगत हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने यह आशय प्रकट किया है कि 'यद्यपि भगवान् वैसे ही हैं, फिर भी उन्हें अनन्त प्रेमका, असाधारण वात्सल्यका विषय बनाकर माताने उन्हें बाँध दिया। बात यह है कि ईश्वरके अधीन सब है; परंतु ईश्वर प्रेमके अधीन है। भक्तिमें जो बाँधनेकी शक्ति है, वह भी प्रभुकी ही शक्ति है। वे किसी औरसे नहीं, अपनी शक्तिसे ही बँधते हैं। प्रेम उनके ऐश्वर्यको आच्छादित कर देता है। वे प्राकृत नहीं हैं, चित्पुञ्ज हैं। फिर भी प्राकृतके समान बाँध दिये गये—यही प्रेमकी शक्ति है।'

आचार्य वल्लभ बन्धन-प्रसंगपर प्रसन्न-गम्भीर विवेचन करते हैं। उनका कहना है—"भगवान्‌में दोनों प्रकारसे बन्धनका अभाव सिद्ध होता है। पहला, भगवत्स्वरूपका विचार और दूसरा, बन्धन-साधनके स्वरूपका विचार। देखिये, बन्धन दो काम करता है—बाहरसे निरोध और भीतरसे ताप। ये दोनों उसीको हो सकते हैं, जिसमें अन्तर-बाह्यका भाव हो। भगवान् पूर्ण हैं। सबमें व्याप्त हैं। वे किसीके भीतर नहीं हैं। वे निरवयव हैं। अतः उनका कोई परिच्छेदक नहीं है। 'अन्तः' शब्दका अर्थ है—शब्द-सहित आकाश। उसकी प्रवृत्ति भगवान्‌में नहीं है। अर्थात् न भगवान् आकाशके अन्तर्गत हैं, न तो शब्दके विषय हैं। 'अन्तर्यामी ब्राह्मण'के अनुसार वे ही सर्वान्तर हैं। फिर वे किसके अन्तर्गत होंगे, जिससे वे उसमें बाँधे जायँ ? आधार होनेपर तो उनका किसीमें अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि बन्धन वेष्टनात्मक होता है। वह देश-परिच्छिन्नमें ही सम्भव है। निरवयव अनिरुक्त स्वयम्प्रकाश ज्ञातृ-ज्ञेय-भावके द्वैतसे रहित परमात्मामें पूर्वापर या उत्तर-दक्षिण सम्भव ही नहीं है। अतः स्वरूपकृत, देशकृत, कालकृत या अन्यकृत बन्धन भगवत्स्वरूपमें सम्भव नहीं है।"

अब बन्धन-साधन-स्वरूपपर विचार कीजिये। रज्जु आदिके पूर्वापर भागमें ये ही विद्यमान हैं। स्वयं यशोदा इस सम्बन्धमें प्रमाण हैं कि उन्होंने भगवान्‌के मुखमें सम्पूर्ण विश्व देख लिया था। वे सबके बाहर और भीतर हैं। न केवल वे जगत् हैं, जगच्चय (जगतां चयः) भी हैं। जहाँतक जगत्‌की गति है, भगवान् उतने ही नहीं हैं। क्या जगत् जगदात्माको बाँध सकता है ? स्वयं स्वको नहीं बाँधता। किसी भी प्रकारसे भगवान्‌में बन्धन नहीं है, यह सोचकर भक्त निश्चिन्त रहते हैं। परंतु इस रूपमें लोग भगवान्‌को नहीं जानते। यदि वे अपनेको सर्वथा गुप्त ही रखें तो उनका स्वरूप किसीको ज्ञात नहीं होगा। अतः भगवान् स्वयं अपने परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका बोधन कराते हैं; क्योंकि दूसरोंके समझानेपर भी संदेहकी पूर्ण निवृत्ति नहीं होती। मर्मज्ञ पुरुष अन्याभिनयपरायण नटके वास्तविक स्वरूपको पहचान लेते हैं; परंतु ये अधोक्षज (अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात्, प्रत्यक्षादिजन्य ज्ञान जिसका स्पर्श नहीं कर सकते) हैं। जबतक ये स्वयं अपनी पहचान स्वयं न करायें, तबतक क्या हो सकता है। अतः बद्ध-मुक्त सब ये ही हैं—यह प्रकट करनेके लिये 'बन्धन-लीला' है।

यशोदामाताने उन्हें ऊखलमें क्यों बाँधा ? इसपर हरिसूरिकी उत्प्रेक्षा सुनिये—नामैकदेशग्रहण न्यायसे उलूखल खल है। खलसङ्ग छुड़ानेमें उसका अतिसङ्ग ही कारण बन जाता है। अत्यन्त सांनिध्यसे अवज्ञाका उदय होता है—इस नीतिके अनुसार ही यशोदाने श्रीकृष्णके उलूखलमें बाँधा।[7] यशोदा मैयाने सोचा कि उलूखल भी चोर है; क्योंकि माखनचोरी करते समय इसने कृष्णकी सहायता की थी। चोरका साथी चोर। इसलिये दोनों बन्धनके योग्य हैं।[8]

कविकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि क्या देख रही है ? ध्यान दीजिये। यशोदामाताने श्रीकृष्णको बाँध लिया, यह बात अलग रहे। मुझे तो ऐसा दीखता है कि श्रीकृष्णने ही यशोदा माता और ऊखल दोनोंको ही बाँध लिया। यशोदा भगवत्-स्नेहमें बँध गयी और ऊखल कृष्णके साथ बँधकर दूसरोंके उद्धारमें समर्थ हो गया।[9] भगवत्स्वरूपके बोधमें शब्दनिष्ठ शक्ति, योग, लक्षणा और गौणी वृत्ति कारण होती है। ऐसा लगता है कि योगीन्द्र गर्ग और वेदोंने पहली वृत्तियोंसे बोध कराया और यशोदामाता गौणी वृत्ति (रस्सी) से जानना चाहती हैं।[10]

उपक्रममें ही यह अभिप्राय प्रकट कर दिया गया है कि महापुरुषकी कृपा ही भगवत्प्राप्तिका हेतु है। यशोदा-माता इस रज्जु-बन्धनद्वारा ऊखल (खल) का भी श्रीकृष्णके साथ बन्धन-सम्बन्ध करनेमें समर्थ हैं। माता-महापुरुषके द्वारा भगवान्‌के साथ बाँधा गया ऊखल भी जड नलकूबरका उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है। बन्धन कुछ नहीं है। वह किसके द्वारा किसके साथ किया गया है—इसीका महत्त्व है।

अपना बालक है—इसलिये माताको बाँधनेका अधिकार है। पराया बालक होता तो उपेक्षा की जा सकती थी। कृष्णने अपराध किया है, इसलिये वे बन्धनके योग्य हैं। श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं कि 'रस्सी जब पहली बार दो अंगुल कम पड़ी, तब यशोदाने सोचा कि यह दैववश हुआ। परंतु जब वह बार-बार दो अंगुल न्यून होने लगी, तब विभुता-शक्तिका चमत्कार देखनेमें आया। प्रेम बहुत अधिक है, परंतु परिश्रमकी पूर्णता और कृपा-विशेषकी अपेक्षा है। अतएव सभी रस्सियाँ दो-दो अंगुल न्यून होती गयीं। विभुता-शक्ति भी इसीलिये प्रकट हुई कि श्रीकृष्णके बाल्योचित हठकी लीला पूर्ण हो।'

आचार्य वल्लभका कथन है कि भगवान्‌ने अपनेमें दो दोष दिखाये—पहला, यशोदापुत्र होना और दूसरा, अपराधी होना। दो अंगुल न्यून होकर रस्सी कहती है कि ये दोनों दोष श्रीकृष्णमें नहीं हैं। माताको आश्चर्य भी होता है, परंतु श्रीकृष्णमें अपनी व्यापकताके प्रदर्शनकी इच्छा भी है। पेट बढ़ता नहीं, कमर मोटी नहीं होती, रस्सीपर रस्सी जोड़नेपर भी वह दो ही अंगुल कम होती है। देवता तीन बार अपना सत्य प्रकट करता है। अतएव तीन बार न्यूनता हुई। गोपियाँ हँसती थीं। उन्हें लीला-दर्शनका आनन्द आता था। गोपियोंने यशोदामातासे कहा—'अरी, यशोदा ! पतली-सी कमरमें रुनझुन-रुनझुन करती हुई छोटी-सी करधनी बँधी है और घरकी सारी रस्सियोंसे यह नटखट बँधता नहीं। यह बड़े मङ्गलकी सूचना है कि विधाताने इसके ललाटमें बन्धनका योग नहीं लिखा है। अब तू छोड़ दे यह उद्योग।' परंतु यशोदामाताने कहा—'भले ही बाँधते-बाँधते संध्या हो जाय, गाँवकी सारी रस्सियाँ लग जायँ, मैं आज बाँधे बिना नहीं मानूँगी।' कृष्णका हठ है—मैं नहीं बँधूँगा। माताका हठ है—मैं बाँधूँगी। यह निश्चय है कि भक्तका हठ विजयी होगा। भगवान्‌ने अपना आग्रह छोड़ दिया। बात यह है कि भगवान्‌में असङ्गता, विभुता आदि अनेक शक्तियाँ हैं; परंतु परम भास्वती भगवती कृपाशक्ति ही सर्वशक्ति-चक्रवर्तिनी हैं। वे भगवान्‌के मनको नवनीतके समान पिघला देती हैं और असङ्गता, सत्यसंकल्पता, विभुताको छिपा देती हैं। दो अंगुलकी न्यूनताका अभिप्राय यह है कि जबतक भक्तमें भजनजन्य श्रान्तिका उदय नहीं होता और भगवान्‌में भक्तका परिश्रम देखकर कृपाका उदय नहीं होता, तबतक वे भक्तके वशमें नहीं होते। जब दोनों एकत्र हो गये, तब भगवान् बँध गये। यह श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका भाव है।

—क्रमशः

---

७. परिहातुं खलसंगममतितरखलसंग एव हेतुरिति। अतिसंनिकर्षशास्त्राज्जानत्येषा बबन्ध किमु तस्मिन् ॥

८. अयं चोरश्चौर्यकर्मण्येतत्साहाय्यभागभूत् । इति वीक्ष्य द्वयोर्बन्धार्हतां तत्र बबन्ध तम् ॥

९. सा बबन्ध तमित्यास्तां मन्मतं तु बबन्ध सः। गोपिकोलूखले एव तमस्तन्तुगुणात् प्रभुः ॥

१०. शक्तिर्योगो लक्षणा गौण्यपीति बोधे हेतौ श्रीपतौ तत्र चोक्तम्।
तद्बोध्यत्वं गर्गयोगीन्द्रवेदैर्मन्ये गौण्या गोपिका ज्ञातुमैच्छत् ॥

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

प्रेमका सम्बन्ध केवल भगवान्‌को लेकर उन्हींके लिये हो

सारा प्रेम सब ओरसे सिमटकर होना चाहिये एकमात्र श्रीश्यामसुन्दरमें ही। ममताके एकमात्र पदार्थ वे ही रह जायँ और वह ममता भी अनन्य-विशुद्ध-प्रेमजनित हो। श्रीनन्दनन्दनके अतिरिक्त अन्यत्र होनेवाले प्रेममें कहीं कदाचित् कोई स्वसुखकी कामना रह सकती है और वह सारे प्रेमको विरस या नीरस कर देती है। इसीसे कहा गया है—सारी ममता केवल भगवान्‌में हो और वह हो केवल प्रेममयी। अन्य किसी भी प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिसे जो प्रेमका सम्बन्ध हो, वह केवल उन्हींको लेकर, उन्हींके लिये हो। अपने शरीरसे भी, शरीरके कार्योंसे भी प्रेम उन्हींके लिये हो। प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक कार्य केवल प्रियतम श्रीकृष्णके लिये ही हो। अन्य सबके लिये कुछ रहे ही नहीं—यही जीते-जी मर जाना है। इसमें जीना भी बनता है, खाना-पीना भी बनता है, कपड़े-लत्ते पहनना भी बनता है, दवा-इलाज भी होता है और मरना भी होता है, पर होता है—प्राणप्रियतमके लिये, अपने शरीरके या अपने लिये नहीं। कहीं शरीरमें आसक्ति भी हो सकती है, पर वह शरीरके लिये—अपने लिये नहीं, प्रियतमके लिये ही होती है।

अपने और दूसरेके लियेका प्रश्न ही नहीं, सब उनके लिये। अपना काम तो अब समाप्त ही हो जाना चाहिये। भगवान्‌ने गोपियोंके लिये कहा था—वे अपना काम तो सब मेरे लिये कभीका छोड़ चुकी हैं—'मदर्थे त्यक्तदैहिकाः'।

सब कुछ उन्हींका मङ्गलविधान है

मनमें बहुत प्रसन्न रहना चाहिये। भगवान्‌के शील-स्वभावकी ओर देखकर हमलोगोंको बार-बार मुग्ध होना चाहिये। उनकी कितनी कृपा है, कितना स्नेह है, कहीं उसकी तुलना ही नहीं है। सदा-सर्वदा उनका मधुर स्मरण करते रहना चाहिये। संसारकी अनुकूलता-प्रतिकूलताका कुछ भी असर न होने पाये। सब कुछ उन्हींका मङ्गलविधान है।

सबसे बड़ा लाभ, पुण्य और सौभाग्य

हर हालतमें—तथा बीमारीमें विशेषरूपसे—उनकी पवित्र, मधुर-मनोहर लीलाके दर्शन करते रहो। मनको उनकी लीलाके दर्शनमें लगाये रखो—यही सबसे बड़ा लाभ, पुण्य और सौभाग्य है।

जैसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका ध्यान होता है और उसमें ध्येयाकार वृत्ति होनेपर एक-एक अङ्ग स्पष्ट दीखता है, वैसे ही रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शका भी ध्यान होता है। उसमें स्पष्ट रसास्वादन, भगवान्‌की मधुर अङ्ग-गन्ध, उनकी मुरली-नूपुर-ध्वनि, उनके पवित्र चरणादि अङ्गोंके स्पर्शकी अनुभूति होती हैं। और जहाँ अपनी कृपासे वे इससे भी आगेकी स्थिति बना देते हैं, वहाँ तो साक्षात् ही यह सब होता है। इसकी उत्कट इच्छा करनी चाहिये तथा उनसे इसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये।

असली स्वस्थता भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है

असली स्वस्थता 'स्व' में—'अपने परम प्रियतम भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है। तुम निश्चिन्त

होकर सदा-सर्वदा अपने भगवान्में ही संस्थित रहना—एकदम 'स्वस्थ' रहना। तुम दूसरी बात सोचते ही क्यों हो ? जिनकी जड-शरीरमें ही प्रीति है, वे सोचा करें। तुम तो प्रियतमकी वस्तु हो, सदा-सर्वदा हँसते हुए प्रियतमके हाथका खिलौना बने रहो। इन पंक्तियोंको सदा स्मरण रखो—

दूर हुआ दो के अभाव में भय, चिन्ता, विषाद, मद मान।

× × ×

जाना-आना, मरना-जीना रखता कुछ भी अर्थ नहीं।
एक तुम्हारे मनकी हो—बस, स्वार्थ यही, परमार्थ यही॥

× × × × ×

असलमें स्वस्थ वही है, जो श्रीश्यामसुन्दरको ही अपना सब बनाकर उनके श्रीचरणोंमें स्थित रहता है। शेष—जगत्में स्थित रहनेवाले तो सभी अस्वस्थ हैं। तुम प्रत्येक अवस्थामें श्रीश्यामसुन्दरकी मुसकान देख-देखकर हँसते रहा करो। तुम्हारा रोम-रोम सदा हँसता रहे—खिलता रहे—सूर्य-किरणोंके प्रकाशमें विकसित होनेवाले कोमल कमलोंकी भाँति।

शरीरकी दृष्टिसे औषध तथा पथ्य घरवालों तथा चिकित्सकोंकी इच्छापर छोड़ दो। वे जो कहें, जो बतायें, वही संतुष्टचित्तसे करते रहो। मनमें यह विश्वास करो—'मैं नीरोग हूँ। रोगकी जो कल्पना थी, वह भी बड़ी तेजीसे नष्ट हुई जा रही है। मेरा शरीर स्वस्थ है, मेरा मन स्वस्थ है, मेरी बुद्धि स्वस्थ है, मेरा रोम-रोम स्वस्थ है। भगवान्की कृपासे रोग मेरे पास आ ही नहीं सकता। भगवान् मेरे स्वास्थ्य हैं—मैं कभी बीमार नहीं हो सकता। भगवान् मेरी अचूक शक्ति हैं। भगवान् मेरे सब कुछ हैं। मैं सदा निर्भय हूँ; क्योंकि भगवान्, भगवत्प्रेम तथा भागवत सत्य मेरे पास हैं।'

विशुद्ध अनुरागका स्वरूप

जहाँ पवित्र प्रेम होता है, वहाँ गुणकी अपेक्षा नहीं होती, न कोई कामना होती है। प्रेम तो हृदयकी पवित्रतम वस्तु है। इसलिये वहाँ प्रेमास्पद, बस, प्रेमास्पद ही रहते हैं। उनमें किसी गुण-महत्त्वका अंश है या नहीं, यह प्रेमी नहीं देखता।

वह प्रेमास्पद कहीं बहुत बड़ा है तो हुआ करे; वह है अपना। और वह यदि सर्वथा नीच-अधम है तो परवा नहीं। उसकी नीचता-अधमतासे मतलब नहीं; वह अपना है, बस, अपना है। यही परम आदर्श 'गोपीभाव' है। विशुद्ध अनुरागका यही स्वरूप है।

आनन्दका रोना वाञ्छनीय है

रोना हृदयके परम आनन्दका भी हुआ करता है, दुःखका भी। दुःखका नहीं होना चाहिये; आनन्दका होना वाञ्छनीय है। राधाजीने तो कहा था—'मैं, बस, सदा रोती ही रहूँ'—

इच्छा एक यही मन मेरे—कभी सुअवसर मैं पाऊँ।
ऊँचे स्वरसे रोकर, तज लज्जा, 'हा प्रिय! हा प्रिय!' गाऊँ॥
रोऊँ, रोती रहूँ सदा, वह रुके नहीं मेरा क्रन्दन।
हो अनन्त सुखमय वह मेरा क्रन्दन ही, हे जीवनधन॥

भगवान्‌का हो जानेपर जागतिक दुःख तो वस्तुतः रहता ही नहीं, फिर दुःखका रोना भी कैसे हो ।

मनमें भगवत्प्रेमका सुधा-स्रोत बहता रहना चाहिये

अपने प्रेमास्पदसे मिलना न हो तो दुःख नहीं करना चाहिये—इसमें मनका स्मरण और भी तीव्र तथा अत्यन्त मधुर होगा । श्रीगोपिकाओंका जीवन देखो—वे श्रीश्यामसुन्दरसे सदा अलग रहीं, पर उनके मनको अपना मन बना लेनेके कारण उन्होंने निरन्तर श्रीश्यामसुन्दरको अपने पास ही पाया । मनमें पवित्रतम, दिव्य भगवद्भाव तथा भगवत्प्रेमका सुधा-स्रोत बहता रहना चाहिये, वह कभी सूखने न पाये; फिर शरीर कहीं रहे, किसी अवस्थामें रहे, न रहे । शरीर तो क्षणभङ्गुर है ही, यह तो नष्ट होनेवाला है ही, पर इसके नष्ट होनेपर भी पवित्रतम भगवद्भावका नाश नहीं होता । वह तो सदा-सर्वदा अक्षुण्ण बना रहता है और प्रतिक्षण भगवान्‌के स्वरूप-सौन्दर्यकी भाँति बढ़ता ही रहता है । अतएव उस भगवद्भाव तथा भगवत्प्रेमकी सदा सुरक्षा तथा वृद्धि करते रहना चाहिये । श्रीश्यामसुन्दरको नित्य-निरन्तर अपने अनुकूल मानकर प्रत्येक अवस्थामें परम प्रसन्न रहना चाहिये ।

मनका लगाव ही सच्चा है

प्रेमराज्यमें तप-त्यागकी बड़ी महिमा है । तप-त्याग प्रेमका परम विभूषण है । अतएव शरीरकी दृष्टिसे तप-त्याग करना पड़े तो उसे सानन्द स्वीकार करना चाहिये । जिस वस्तुका मनसे कभी अलगाव हो नहीं सकता, वह तो सदा रहेगी ही । वही सच्ची चिपक है, जो कभी छूटती नहीं । रही बाहरसे मिलनकी बात, सो किसी गोपीको उसकी जरा भी परवा नहीं । श्रीश्यामसुन्दरको स्वयं गरज हो तो मिलें, नहीं तो नहीं । वे न इसके लिये नाराज होती हैं न उलाहना देती हैं, न अपनेको दुःखी मानती हैं न विषाद करती हैं । सदा मौजमें रहती हैं ।

विशुद्ध प्रेममें निर्भय-निस्संकोच व्यवहार होना चाहिये

तुमने लिखा, वह है तो सत्य—लोग मुझसे बड़ा संकोच करते हैं, मेरे साथ बात करनेमें बड़े सम्मानसे बोलते हैं । कोई महात्मा समझते हैं कोई विद्वान्, कोई महान् भक्त तो कोई बड़ा आदमी मानते हैं । इनमें मैं हूँ कोई-सा भी नहीं । झूठा ही रोब बन गया है । भैया ! मैं तो साधारण संसारी मनुष्य हूँ । यदि मैं ऐसा होऊँ तो भी मुझसे क्यों संकोच होना चाहिये, क्यों डरना चाहिये ? मैं सबका अपना हूँ । प्रेममें संकोच-भय नहीं रहते । साक्षात् परात्पर ब्रह्म श्रीश्यामसुन्दर भी व्रजमें अपना बड़प्पन भूलकर व्रजरसका आस्वादन करनेके लिये कभी यशोदाकी छड़ी देखकर रोते-दौड़ते हैं, कभी सखाओंकी फटकार सुनते हैं और उनसे हारकर घोड़ा बन जाते हैं तो कभी व्रजयुवतियोंकी महाभाग्यताका विजयघोष करते हुए उनकी चरण-रज-सेवा करनेमें परम सुखका अनुभव करते हैं ।

भैया ! वे भगवान् केवल प्रेमके वश रहते हैं । वे अन्य किसी भी गुणको नहीं देखते, न वस्तुके परिमाणको देखते हैं । वे देखते हैं—विशुद्ध प्रेम; उसे वे जहाँ पाते हैं, वहीं सारी भगवत्ताको किनारे रखकर दौड़े जाते हैं—

गोपोंके आँगन-कीचड़में तुम प्रमुदित लोटा करते ।
विप्रोंके शुचि यज्ञस्थलमें जाते सदा लाज मरते ॥
गो-गोपी-वत्सोंकी बोली सुनते ही उत्तर देते ।
सत्पुरुषोंकी शत-शत स्तुतियोंपर भी सहज मौन लेते ॥

करते व्रज-दाराओंका दासत्व नहीं तुम हो थकते।
इन्द्रिय-जयी योगियोंका स्वामित्व नहीं तुम कर सकते॥
किसी मूल्यमें भी तो वे तव मिलते चरण-सरोज नहीं।
एक प्रेमसे ही इनकी, बस, होती रसमय प्राप्ति सही॥

प्रेममें निर्भय-निस्संकोच व्यवहार होना ही चाहिये। नहीं तो रसका विकास ही नहीं होता। भय, सम्मान, सम्भ्रम, संकोच, आदर आदि स्वाभाविक ही प्रेमके उच्च-स्तरमें उत्तरोत्तर मिटते चले जाते हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इनमें उत्तरोत्तर समीपता है और जितनी समीपता है, उतना ही भय, मान, सम्भ्रम, संकोच आदिका अभाव है।

दुःखमें भी प्रियतमका सुख-स्पर्श ही प्राप्त करना चाहिये

तुम बड़े सौभाग्यशाली हो और तुम निश्चय समझो, तुमपर श्रीश्यामसुन्दरकी कृपा-सुधा-धारा नित्य-निरन्तर बरस रही है। तुम्हारी घबराहट भी उन्हींकी लीलाका एक अङ्ग है। पर तुम इसे स्वीकार क्यों करते हो? तुम तो भीषण-से-भीषण कष्टमें भी कहा करो—'प्यारे! तुम इस रूपमें आये? आओ, लग जाओ हृदयसे। तुम किसी भी रूपमें आओ और मुझे गले लगाते रहो। यह तो सम्भव नहीं कि तुम्हारे सिवा अन्य कोई भी मुझे आलिङ्गन करे। रोग बनकर आओ और अन्य कैसा भी बीभत्स, भयानक रूप धरकर आओ, मैं तुम्हें पहचान लूँगा और प्यारे! सदा तुम्हारा सहर्ष स्वागत करूँगा।'

तुम्हें दुःखमें भी प्रियतमका सुख-स्पर्श ही प्राप्त करना चाहिये। क्या इस रूपमें कोई दूसरा आता है? क्या श्रीश्यामसुन्दरके प्रेमीके पास कभी कोई रोग-दुःख आ सकता है? श्रीश्यामसुन्दर स्वयं चाहे जिस रूपमें, चाहे जिस वेषमें आ जायँ, आते हैं वे ही। फिर हम क्यों कहें कि तुम हमारे चाहे हुए रूपमें ही आया करो। तुम सदा प्रसन्न रहा करो। किसी भी अवस्थाको तुम्हें हँसते देखकर लज्जा आ जाय।

वियोग बड़ा सुखदायी होता है

वियोग बड़ा सुखदायी होता है। मिलनमें मिलन-भङ्गका भय है; वियोगका स्मृतिजनित यथार्थ मिलन सर्वथा भय-शून्य है। उसके भङ्ग होनेकी सम्भावना ही नहीं। प्रभुको नित्य अपने बाहुपाशमें बाँधे रखना—बिना किसी भय, संकोच, मर्यादा, मान, संदेहके—यह वियोग-मिलनमें ही होना सम्भव है। संयोग-मिलनमें तो बहुत-सी बाधाएँ रहती हैं।

विशुद्ध प्रेम सर्वाकर्षक श्रीकृष्णके मनका भी आकर्षण कर लेता है

भगवान् सदा-सर्वत्र केवल निर्गुणरूपसे व्यापक ही नहीं हैं, सगुण-साकाररूपमें भी अपने प्रेमी—लोक-परलोकके भोगोंकी वासनासे शून्य और मुक्तिको भी न चाहनेवाले—के समीप नित्य रहते हैं; उसे सुख देनेके लिये नहीं, उसके सुखसे स्वयं सुख प्राप्त करनेके लिये। पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काममें भी पवित्र दिव्य प्रेम-सुधा-रस-पानकी दिव्य कामनाका उदय हो जाता है। अतएव भगवान्‌से सदा-सर्वदा एकाङ्गी प्रेम ही करना चाहिये। वे प्रेमास्पद जानें ही नहीं कि अमुक मुझसे प्रेम करता है। ऐसे प्रेमीके प्रेमका एक विलक्षण चमत्कार यह होता है कि वह सर्वाकर्षक श्रीकृष्णके मनका भी आकर्षण कर लेता है और प्रियतम श्रीकृष्ण निरन्तर उसके पास रहनेमें ही सुखानुभव करते हैं।

श्रीश्यामसुन्दर तथा श्रीराधाका सेवा-सुख जीवन बन जाय

असलमें जबतक मनुष्यके मनमें जरा भी भोग-काम है, तबतक वह प्रेमके मार्गपर आ नहीं सकता। काम प्रेमका शत्रु है, काम गंदी चीज है। उस गंदगीमें पवित्र प्रेम नहीं आता और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ प्रेमास्पदका मन ही उसका मन बन जाता है। इसीसे प्रेमास्पदकी यथार्थ महिमा, उसकी सेवाका स्वरूप, उसकी श्रद्धाका स्वरूप और उसके मनकी गुप्त बात, उसका तत्त्व वह जानता है। इस प्रकारके प्रेमीका नाम ही 'गोपी' है। भगवान् श्यामसुन्दर अर्जुनसे कहते हैं—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

इसीसे गोपीका जीवन, उसका शरीर-रक्षण, उसका प्रत्येक विचार तथा कार्य श्रीश्यामसुन्दरको सहज सुख पहुँचानेके लिये ही हुआ करता है। अपना जीवन ऐसा बने, श्रीश्यामसुन्दर तथा श्रीराधाका सेवा-सुख ही जीवनका स्वरूप बन जाय,—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। (पुराने पत्रोंसे संग्रहीत)

संसारका स्वरूप !

जगमें काको कीजै तोस।
जासौं तनकहु बिरति कीजिये, सोई धारत रोस॥
इंद्रिय सब अपुनी दिसि खींचत चाहि-चाहि निज भोग।
मन अलभ्य बस्तुनहु भोगत मानत तनिक न सोग॥
कहति प्रतिष्ठा—हमहिं बढ़ाओ, चहति कामना काम।
ईर्षा कहति—तुमहिं इक जीअहु, करि औरन बे-काम॥
जागत-सपन काय-बाचा सौं मन सौं भोगत धाय।
घिसि गईं इंद्री, प्रान सिथिल में, तौहू नाहिं अघाय॥
जौन मिलत कै तन बल नहिं, तौ दूरहि सौं ललचाय।
जिमि सतृष्न ह्वै लखत मिठाइन, स्वान लार टपकाय॥
सब सौं थकि कै करत स्वर्ग के अमृतादिक मैं चाह।
धिक-धिक-धिक 'हरिचंद', सतत धिक, यह जग काम अथाह॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

संकल्प

('साधुवेषमें एक पथिक')

संसारमें अनन्त शक्तिका परिचय अखण्ड गतिद्वारा मिल रहा है। प्रकृतिके कण-कणमें अनादिकालसे क्षण-क्षण गति हो रही है। सर्वत्र जो गतिका भोक्ता है, वही 'जीवात्मा' है और जिसमें गति नहीं है, जो सर्वत्र गतिका द्रष्टा है, जिसमें गतिका आरम्भ और अन्त होता है, वही अनन्त 'परमात्मा' कहा जाता है। परमात्मासे नित्ययुक्त जीवात्मामें प्रकृतिके सङ्गानुसार ही संकल्प उठते हैं। भिन्न-भिन्न संकल्पोंके अनुसार ही जीव शुभ या अशुभ कर्मोंका कर्ता बनता है और कर्ता बननेके कारण सुगति या दुर्गतिका भोक्ता बनता है। जन्मान्तरोंके वासनानुसार तथा सजातीय सङ्गसे प्रेरित होकर सभी प्राणी अपने-अपने मनोरथकी पूर्ति करते हैं, परंतु मनुष्य बुद्धिमान् होनेके कारण जब कभी श्रेष्ठ सज्जन पुरुषोंसे प्रेरित होकर अथवा सच्छास्त्रोंके अध्ययनसे अथवा गुरु-ज्ञानसे प्रेरित होकर शुभ कर्म करता है, तभी दुर्गति-भोगसे बचकर सद्गति, परम गति प्राप्त करता है। अशुभ संकल्प उसको पाप-पथमें प्रेरित करते हैं और शुभ संकल्प पुण्यपथमें। जो विद्वान् पुरुष एवं विदुषी नारी दुर्गतिसे बचकर सद्गति, परम गति चाहते हों, वे अशुभ संकल्पोंका त्याग कर शुभ संकल्पको ही दृढ़ बनायें।

कोई पुरुष हो या नारी, वह अपने भाग्यका विधाता स्वयं ही है। अपनी-अपनी सुमति या कुमतिके अनुसार ही सबकी सुगति या कुगति होती है। संकल्पके अनुसार ही हम सभी लोग कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों अथवा मन-बुद्धिद्वारा सब कुछ करते हैं। हमलोग कुछ करनेके प्रथम शुभ या अशुभ निर्णय करनेके लिये स्वतन्त्र हैं, किंतु संकल्पानुसार कर्म कर लेनेके पश्चात् उसके फल भोगनेमें परतन्त्र हैं। अशुभ संकल्पोंकी पूर्तिमें प्राप्त शक्ति एवं समयका दुरुपयोग होता है और शुभ संकल्पोंकी पूर्तिमें उसका सदुपयोग होता है। जिससे पतन होता है, दुर्गति होती है, उसकी शिक्षाके लिये कोई श्रम नहीं करना होता। जिससे उन्नति-सद्गति-परम गति होती है, उसके लिये क्रमबद्ध शिक्षा-दीक्षाकी आवश्यकता है। अपने पतनके लिये हमें कोई श्रम नहीं करना है। जो कुछ करना चाहिये, उसके प्रति असावधानी हमें स्वतः पतनके गर्तमें गिरा देगी; किंतु उन्नति, सद्गति-, परमगतिके लिये उत्तमोत्तम संगकी तथा दृढ़ संकल्प एवं साहस और निरन्तर प्रयत्न अथवा साधनाकी आवश्यकता है।

नित्य जीवन, शाश्वत जीवन अपने-आप नहीं सुलभ होता, किंतु जडता स्वतः साथ चलती है। अमरताके लिये साधना अपेक्षित है, पर मृत्यु तो स्वतः ही आती है। श्रेष्ठ विद्वानों, गुरुजनोंको आमन्त्रित करना होता है; पर कौआ, कुत्ता, मक्खी, मच्छर, छली, कपटी, चोर, धूर्तजन तो बिना बुलाये ही आनेकी घात लगाये रहते हैं। हमें यह समझाया गया है कि मनुष्य जीवन और मृत्युके मध्यमें है, वह चेतना और जडताके संयोगमें स्थित है, वह एक सिरेमें पशुमय है और दूसरे सिरेमें प्रभुमय है, वह विनाशी एवं अविनाशीके मध्यमें भूला हुआ पथिक है। वह कहीं सोया है, इसीलिये जाग्रत् हो सकता है। वह कहीं मूर्छित है, अतः होशमें आ सकता है और जहाँ गतिशील है, वहीं सद्गति—परम गति प्राप्त कर सकता है। वह कुसङ्गमें है तो सत्सङ्गसे सावधान हो सकता है। जहाँ असत् संकल्प है, वहीं सत्संकल्प हो सकता है। हम सब मानव हैं। हमें अपने होनेकी बोध-किरण प्राप्त है, इसीलिये हम अपने आपको उसके उद्गम परम सूर्यसे युक्त अनुभव कर सकते हैं, केवल दृढ़ संकल्प आवश्यक है।

मनुष्य ही वासना-प्रेरित, कुसङ्ग-प्रेरित, कुसंस्कार-प्रेरित होकर अशुभ कर्म करता है और सुसङ्ग-प्रेरित, सच्छास्त्र-प्रेरित एवं ईश्वर-प्रेरित शुभकर्मी होकर मुक्त-भक्त हो जाता है। अपनी-अपनी मतिके अनुसार सभी नर-नारी वासना-कामनाकी पूर्तिके लिये जितना दृढ़ संकल्प करते हैं, उतना दृढ़ संकल्प वासना-कामनाकी निवृत्तिके लिये जबतक नहीं करते, तबतक भोगी, रोगी, अशान्त ही होते रहते हैं। समाजमें शान्त, स्वस्थ योगी कोई विरले ही पाये जाते हैं। प्रायः अविवेकीजन दूसरोंके श्रृङ्गार, रूप, वस्त्रों, आभूषणों अथवा किसीके वैभव-धनसे मोहित होकर वैसा ही बननेका संकल्प करते हैं; परंतु दूसरोंके सद्गुणों तथा त्याग, सेवाको अथवा दान एवं निष्काम प्रेमको देखकर तदनुसार होनेका संकल्प विरले ही विवेकी करते हैं। हम सबके लिये यह समझने-योग्य संदेश है कि जिस शक्तिसे दुर्गतिदाता अशुभ संकल्प पूर्ण होता है, उसी शक्तिसे सद्गतिदाता शुभ संकल्प पूर्ण होता है; अतः परमार्थ-प्रेमी साधकोंको अशुभ संकल्पसे बहुत ही सावधान रहना चाहिये।

किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये पशुकी अपेक्षा है, किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये मानवकी, किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये राक्षसकी अथवा दानवकी अपेक्षा होती है, किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये देवताकी और किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये भगवान्‌की दया अथवा कृपाकी अपेक्षा होती है। जितनी ही संकल्पोंकी पूर्ति होती है, उतनी ही गतिसे नये संकल्पोंकी उत्पत्ति होती जाती है। समस्त संकल्प अहंकारकी सीमासे ही उत्पन्न होते हैं और संकल्पोंकी पूर्तिसे अहंकार पुष्ट होता रहता है। संकल्पकी पूर्तिसे जो सुख प्रतीत होता है, वही देहाभिमानको तथा वस्तुके प्रति लोभ तथा व्यक्तिके प्रति मोहको पुष्ट करता है। यह भी सत्य है कि संकल्पकी पूर्तिमें रसास्वाद लेनेवाला काम-क्रोधादि विकारोंसे नहीं छूट पाता और विकारोंके रहते शान्ति, मुक्ति, भक्ति नहीं मिलती। संकल्पकी पूर्तिके लिये कहीं वस्तु-संग्रहकी, कहीं व्यक्तियोंके संयोगकी, कहीं पदाधिकारकी अपेक्षा रहती है, यह परापेक्षा ही विविध बन्धनों और अनर्थोंका मूल है। परमार्थी साधक जब सभी संकल्पोंका त्याग कर पाते हैं, तभी शान्तिका अनुभव करते हैं।

एक संतने समझाया है कि स्वार्थसे परमार्थकी ओर लौटनेके लिये प्रथम अपने मनोरथकी पूर्तिके संकल्पका त्याग करो और उसी शक्ति, सम्पत्ति, योग्यताद्वारा दूसरोंके शुभ संकल्पकी पूर्ति करते जाओ। जब दूसरोंका समुचित संकल्प तुम्हारे द्वारा पूरा हो, तब अपना हित समझकर उस सेवाका कोई भी बदला न चाहो और सेवक होनेका अभिमान न करो। जबतक तुम संसारकी वस्तुओंको तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंको अपना मानकर मोही बने रहोगे, तबतक कामनाका अन्त नहीं होगा। संकल्परहित होनेके लिये किसी वस्तुको अपनी मानकर लोभी और किसी सम्बन्धित व्यक्तिको अपना मानकर मोही न बने रहो। लोभी, मोही, अभिमानी, कामी सदा परका ही चिन्तन करता है, स्मरण करता है और विषय-सङ्ग प्राप्त होते ही कामना-पूर्तिका संकल्प करते हुए उसकी पूर्तिका प्रयत्न करता है। ऐसा व्यक्ति श्रमित ही रहता है, विश्राम नहीं पाता। शरीरके द्वारा श्रमित होकर देहद्वारा ही विश्राम सभी प्राणी नित्य चाहते हैं, परंतु संकल्पके द्वारा श्रमित होकर जीवनमें विश्राम चाहनेवाले विरले ही विवेकी मिलते हैं।

जो जन दुर्गतिजनित दुःखोंसे मुक्त होना चाहते हैं, उनके लिये सनातनकालसे वेदों, शास्त्रों एवं संतोंका आदेश-उपदेश यही है कि असत्-संकल्पोंसे सावधान रहो, सदा पवित्र हितकारी संकल्प करो। सांसारिक सुखोपभोगके लिये जो वस्तुओं, व्यक्तियोंके संयोग-लाभका संकल्प होता है, वह व्यक्तिको क्षुद्र बनाता है। सर्वोपरि महान्‌के नित्ययोगका संकल्प साधकको महान् बना देता है। जिसकी प्राप्तिका संकल्प होता है, उसीसे मन भर जाता है। क्षुद्र, विनाशी, परतन्त्रसे मनका भर जाना ही महान् अविनाशी, स्वतन्त्रसे विमुख बने रहना है। संकल्पसे ही विष प्राप्त होता है और संकल्पसे ही अमृत सुलभ होता है। दृढ़ संकल्पके पीछे त्याग, दान, तप, श्रमकी क्षमता रहती है। जिसका संकल्प जितना ऊँचा होगा अर्थात् जो महान् सर्वोपरि साध्यकी प्राप्तिका संकल्प करेगा, उसमें उतना ही अधिक दोषोंके त्यागका तथा शुभ सुन्दर पवित्रके आदानका बल होगा; फलतः वह उतना ही उच्च तपस्वी होगा। तुच्छ संगतिसे मनुष्य तुच्छ संकल्पोंद्वारा कुसङ्गी, दुर्व्यसनी, आलसी, विलासी, हिंसक, दुराचारी बन जाता है और सज्जनकी संगतिसे पुरुष उच्च संकल्पके द्वारा सत्सङ्गी, संयमी, श्रमी, सेवापरायण, सदाचारी, प्रेमी हो जाता है।

इस सत्यको विवेकीजन ही जान पाते हैं कि मनुष्यकी जितनी भी दौड़ है, जितना भी घोर श्रम है, जितना संघर्ष है, कोलाहल है, चीत्कार है, पुकार है, जितने भी पाप-पुण्यके लिये घोर कर्म हैं, सभी संकल्पके ही कारण हैं। मनुष्य जहाँतक अशान्त है, वह संकल्पकी पूर्तिके लिये ही अशान्त है। संकल्पके त्यागमें ही शान्ति है, विश्राम है। संकल्पके त्यागमें ही संन्यासकी सिद्धि है। लोभी, मोही, कामी, अभिमानी ही संकल्पका त्याग नहीं कर पाता; किंतु जिसके हृदयमें प्रेम जाग्रत् होता है, वही अपने संकल्पका त्याग करते हुए अपने प्रेमपात्रका संकल्प पूर्ण करता है। अपने सुखोपभोगका संकल्प छोड़कर अपने प्रियके सुखद संकल्पोंके साथ ही हितकारी संकल्पोंकी पूर्तिका संकल्प करना दुर्गतिसे सद्गतिमें लौटनेका शुभ मुहूर्त साधना है।

सच्चा सेवक वही है, जो अपने स्वामीका शुभ संकल्प पूर्ण करे। सच्चा शिष्य वही है, जो सद्गुरुका संकल्प पूर्ण करे। पूर्ण भक्त वही है, जो अपने भगवान्‌का कार्य पूर्ण करनेमें अपना सर्वस्व समर्पित कर दे। पूर्णमुक्तप्रेमी वही है, जो अपना कोई संकल्प ही न रहने दे।

यदि तुम जीवनमें सद्गति, परम गति और परम शान्ति चाहते हो तो परमगुरु भगवान्‌का तुम्हारे लिये आदेश-संदेश है कि आरम्भमें स्वार्थीके विपरीत परार्थी और परमार्थी होनेका संकल्प करो। अपने विचारोंसे, आचरणसे, भाषणसे दूसरोंको सुख ही दो किसीको दुःख न दो। अहिंसा-व्रती होनेका संकल्प करो। तुम किसीसे घृणा न करनेका और परमात्माकी आत्मा समझकर सबसे प्रेम करनेका ही संकल्प

करो। अज्ञानवश ही लोभी, मोही, अभिमानी, कामीसे पाप बनते रहते हैं। अतः किसीपर क्रोध न करके क्षमा करनेका संकल्प करो। अधिकारी-वर्ग उसे स्वतः ही दण्ड देंगे। किसीकी हानि न करनेका तथा दूसरोंको लाभ पहुँचानेका संकल्प करो। किसी हठाग्रही-दुराग्रहीसे विवाद न करके मौन होनेका संकल्प करो। दुःखी होनेपर अपने भीतर दुःखदाताके दोषको देखनेके त्यागका संकल्प करो। दूसरोंके अधिकारानुसार अपने कर्तव्य-पालनका और दूसरोंपर अपने अधिकारके त्यागका संकल्प करो। जिस परमात्माके चिन्तन, ध्यान एवं योगसे सभी कामनाएँ अथवा सभी संकल्प पूर्ण होते हैं, उस परमात्माकी नित्य-निरन्तर योगानुभूति प्राप्त करनेका संकल्प करो। मनसे ही मनको देखो तथा मनको बार-बार आत्मामें लगाओ—यों करनेसे मन नियन्त्रित होता है। दृढ़-संकल्प होकर मनके मूलस्रोतको देखो या उसे मनको समर्पित करो, इससे मन निष्क्रिय हो जाता है। हमें यह भी समझाया गया है कि सारे संकल्प अहंकारमें ही होते हैं। अहंकार संकल्पोंकी भीड़से घिरा रहता है, इसीलिये अहंकार अपने संकल्पित क्षेत्रको देखता है, परंतु स्वयंको नहीं देख पाता। स्वयंको न देख पाना ही घोर अज्ञान है। अज्ञान ही सर्वोपरि पाप है, इस पापका परिणाम ही अगणित कष्टों एवं दुःखोंके रूपमें भोगना पड़ता है। जीवनमें विविध कष्टों, दुःखोंका अन्त करनेके लिये अहंभावके मूलस्रोतकी खोज करनी चाहिये। अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले संकल्प ही नित्य आनन्दकी अनुभूतिमें बाधक बनते हैं। जब संकल्प नहीं होते, तब अहंकार भी शून्य होता है, तब मन भी नहीं रहता।

जबतक संकल्प उठते हैं, तबतक समर्पण पूर्ण नहीं होता। परमात्मा अर्थात् परमानन्दके पूर्ण योगमें संकल्प अत्यन्त बाधक हैं, ये ही मनकी सृष्टि रचते हैं। यह स्मरणीय सत्य है कि संकल्प शान्त होनेपर न जगत् रहता है, न जगदीश्वरके दर्शनकी प्यास रहती है; तब तो केवल आत्मानन्द ही शेष रहता है। आत्मा प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है; ऐसा कोई क्षण नहीं, जब आत्मा न हो। अपना अस्तित्व ही तो आत्मा है। संकल्पयुक्त अहंकार मनोमय बन जाता है और संकल्पसे मुक्त मन आत्मामें विलीन हो जाता है। परम गुरु भगवान्का निर्णय है कि जो देहस्थ है वही मनका निरसन होनेपर आत्मस्थ होता है। ब्रह्म-संयोगसे अत्यन्त सुख अर्थात् आनन्दको प्राप्त करनेके लिये संकल्प और संकल्पसे उत्पन्न कामनाओंको पूर्णतया त्याग करना होता है। मनसे इन्द्रियोंको स्ववश रखते हुए बुद्धिद्वारा रागका त्याग करना होता है। जब दूसरा कोई संकल्प एवं विचार नहीं उठता, तभी मन आत्मामें स्थिर होता है और वह साधक योगी ब्रह्मरूप हो जाता है। आत्मयोगकी साधना आरम्भमें संकल्पोंके त्यागसे, कामनारहित होकर इन्द्रियोंको स्ववश करनेसे, बुद्धिपूर्वक अटूट धैर्यके साथ ही लगातार प्रयत्नसे सिद्ध होती है।

संकल्पोंको न आने देना ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये आरम्भिक अभ्यास है। संकल्प ही ध्यानमें विक्षेप डालता है। संकल्प-जनित विक्षेप शान्त होनेपर अहंकारके पीछे जो नित्य सनातन सत् आत्मा है, उसका अनुभव होता है, अहंकारका वही प्रकाशक है। आत्माका सीमित चिदाभास ही अहंकार है। अहंकारकी सीमा टूटनेपर, मिटनेपर वही अनन्त सत्य है। स्वयं सत्य होते हुए हम सत्यको प्राप्त करना चाहते हैं, यही मायाका रहस्य है। आत्माके बिना अहंकारका कोई अस्तित्व ही नहीं है। आत्मासे विमुख रहकर अहंकार संकल्प करता है, संकल्पोंके द्वारा ही अधोगति होती है। संकल्पके त्यागकी सामर्थ्य जिस साधकमें होती है, वही रागके बन्धनसे मुक्त होता है। जिस मनसे प्रत्येक साधक बन्धनमें पड़ता है, वह मन केवल संकल्पोंका समूह है। मनको देखनेसे मन मिलता ही नहीं। 'मैं कौन हूँ' इसे जान लेनेपर संकल्पोंका मूल समाप्त हो जाता है। 'मैं' को कुछ-न-कुछ बनाते रहना ही अहंकारको पुष्ट करते जाना है।

जबतक संकल्प शान्त नहीं होते, तबतक स्वरूपमें स्थिति नहीं होती। संकल्प ही आत्मारूपी सूर्यको आवृत कर लेते हैं। वे संकल्प आत्माके ही प्रकाशसे उत्पन्न होते हैं और आत्माके ज्ञानद्वारा ही वे बादलोंकी भाँति छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। संकल्पोंकी उत्पत्ति अज्ञानमें होती है, संकल्पोंकी पूर्ति पुण्य और प्रयत्नसे होती है और संकल्पोंकी निवृत्ति आत्माके ज्ञानमें होती है। असावधानी एवं अज्ञानमें उठने-वाले व्यर्थ संकल्प ही अनर्थके हेतु बनते हैं। संकल्पशून्य चेतनके विस्तारको ही संतजन 'आत्मा' कहते हैं। आत्मा नित्य है, निरन्तर है, पूर्ण शान्त है, वही अपना स्वरूप है; परंतु संकल्पोंके न रहनेपर उसकी अनुभूति होती है। संकल्पशून्य होना, विचाररहित होना ही तो 'समाधि' है; जो अपनेसे भिन्न है, उसकी प्राप्तिका संकल्प ही परतन्त्र-पराधीन बनाता है। जो अपनेसे अभिन्न है, नित्य है, निरन्तर है, उस नित्य प्राप्तकी प्राप्तिका संकल्प ही निरर्थक है। संकल्पशून्य होनेपर जो स्वतन्त्रता आती है, उसीमें आनन्द प्रतिष्ठित है।

'होइ न विषय बिराग !'

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हम हैं उन मनुके वंशज, जो कहते थे—

'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन ।'

(मानस १ । १४२)

बचपन गया, जवानी गयी, प्रौढ़ावस्था गयी । आ गया बुढ़ापा । फिर भी विषयोंसे वैराग्य नहीं हो रहा है ।

बाल पक रहे हैं । दाँत हिल रहे हैं । आँखोंसे ठीक सूझता नहीं । कानोंसे ठीक सुनायी पड़ता नहीं, परंतु विषयोंकी आसक्ति कम नहीं होती ।

जीवनके तमाम सुख भोग लिये । विषयोंके खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त कर लिये । फिर भी विषयोंकी लालसा कम नहीं होती ।

व्रत किये, उपवास किये, संयम किये, साधना की, पर विषयोंकी लत पीछा नहीं छोड़ती ।

× × ×

लोग कहते हैं कि 'मणिकर्णिका घाटपर दो-चार घंटे बिताओ तो वैराग्य हो जायगा । चिताओंकी धू-धू करती लपटोंको देखकर संसारसे विरक्ति हो जायगी ।'

पर कहाँ ? कहाँ हो पाता है ऐसा ?

अनेक बार गया हूँ मणिकर्णिकापर । अपनोंके साथ, परायोंके साथ । परमप्रिय देहोंको अग्निको भस्मसात् करते देखा है, पर कहाँ हुआ वैराग्य !

चिताओंको ठोक-पीटकर, शवोंको जलाकर, राख कर हम घर आ जाते हैं । गङ्गामें तिलाञ्जलि दी कि ड्यूटी खतम ।

'फिर वही कुंजे क़फ़स, फिर वही सैयाद का घर ।'

× × ×

जगत्की नश्वरता प्रत्यक्ष है । जगत्की क्षणभङ्गुरता क्षण-क्षणपर दीखती है ।

'सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ ।'

—देखते हैं, रोज देखते हैं । (मानस २ । ९२)

पर यह सपना टूटनेका नाम नहीं लेता । हम आँख मूँदे उसका आनन्द लेते रहते हैं । कभी एकाध पलको टूट जाय तो हम फिर जोरसे आँख मूँदकर मनाने लगते हैं कि पिछली घटनाओंका क्रम फिर चालू हो जाय ।

कैसा मोहक सपना ! टूटता है तो दुःख होने लगता है ।

जीवनके थपेड़े लगते हैं । रात-दिन लगते हैं । सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मौज-पीड़ाके द्वन्द्व सताते हैं । ठोकरें लगती हैं । विश्वासी लोग धोखा दे जाते हैं । पर हम चेतनेका नाम नहीं लेते—

न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ।

× × ×

विषयोंमें सुख है, रमणीयता है, मोहकता है—इस भ्रममें पड़े हम जी रहे हैं । विषय कभी-कदाच हमसे दूर भागते हैं तो हम दौड़कर उन्हें पकड़ लेते हैं । हमें लगता है कि विषयोंके बिना हम जियेंगे कैसे ।

विषयोंके लिये हमारा जी कचोटता रहता है । रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शके लिये हम आकुल रहते हैं,—बेतहाशा दौड़ते रहते हैं इनकी तलाशमें ।

रुपया और पैसा, धन और दौलत, स्त्री और पुत्र, जमीन और जायदाद, नाम और यशकी प्राप्तिके लिये हम रात-दिन एक किये रहते हैं ।

वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा हमपर रात-दिन सवारी गाँठे रहती हैं—हमपर हावी रहती हैं ।

इन चीजोंके रहते वैराग्य !

राम कहिये ।

× × ×

हम देखते हैं, रोज देखते हैं कि यह सारा मायाजाल झूठा है, नश्वर है, क्षणस्थायी है ।

गुल-शोर, बबूला, आग, हवा, सब कीचड़-पानी-मिट्टी है ।
हम देख चुके इस दुनियाको सब धोखेकी-सी टट्टी है ॥

परंतु पलभरमें हमारी यह अनुभूति गायब हो जाती है । मायापाश हमें पुनः अपने पाशमें जकड़ लेता है । हम रात-दिन उसीमें बँधे छटपटाते रहते हैं ।

× × ×

धर्मशास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं—

ज्ञान चाहते हो—वैराग्य करो ।
भक्ति चाहते हो—वैराग्य करो ।
योग चाहते हो—वैराग्य करो ।
मोक्ष चाहते हो—वैराग्य करो ।

रामायणमें आता है—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा । जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
(मानस २ । ९२ । ४-४½)

विषयोंको छोड़ो, तब होगा विवेक । तब होगा ज्ञान । ज्ञान होनेपर ही भक्ति प्राप्त हो सकेगी । मायाके मोहमें जबतक पड़े रहोगे, तबतक तुम्हारा छुटकारा होनेवाला नहीं ।

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
(मानस ७ । ६१)

× × ×

पतञ्जलि भगवान् कहते हैं—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।' (योगदर्शन १ । २)

'चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम है—योग ।' इसका साधन—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।' (योगदर्शन १ । २८)

'चित्तकी वृत्तियोंके निरोधके साधन हैं—अभ्यास और वैराग्य ।'

गीता भी अभ्यास-वैराग्यकी बात कहती है ।

योगवासिष्ठ भी अभ्यास-वैराग्यका राग अलापता है । पर अभ्यास-वैराग्य कोई दाल-भातका कौर है !

× × ×

लोग एकान्तमें, तनहाईमें, जेलमें चले जाते हैं, तब भी विषय पीछा नहीं छोड़ते—

कैद ज़िन्दामें न छोड़ा साथ है,
इश्क मूँज़ी भी बड़ा बदज़ात है ।

× × ×

तो मूल प्रश्न यही है कि विषयोंसे वैराग्य नहीं होता । वैराग्य क्यों नहीं होता ?

इसलिये नहीं होता कि विषयोंमें राग बना हुआ है ।

विषयोंकी लालसा, विषयोंकी तृष्णा जबतक बनी है, तबतक वैराग्य कहाँ ?

× × ×

पर, जिस वैराग्यकी इतनी महत्ता है, जिसको भक्ति, ज्ञान, योग, मोक्ष आदिके लिये अनिवार्य बताया गया है, वह वैराग्य है क्या ? उस वैराग्यकी कोई पहचान भी है ?

क्या गेरुए कपड़े पहन लेना वैराग्य है ?
क्या लंगोटी लगा लेना वैराग्य है ?
क्या भस्म रमा लेना वैराग्य है ?
क्या चिमटा बजाने लगना वैराग्य है ?
क्या गुदड़ी पहन लेना वैराग्य है ?
क्या घरबार छोड़ जंगलमें धूनी रमा लेना वैराग्य है ?

× × ×

गुरु नानक कहते हैं—जी नहीं । ये सब वैराग्यके लक्षण नहीं, योगके लक्षण नहीं—

जोग न कंथे, जोग न डंडै, जोग न भस्म चढ़ाईए ।
जोग न मुंदी मूंड मुँड़ाये जोग न सिंगीं वाईए ॥
अंजन माहि निरंजन रहिये, जोग जुगत इव पाईए ।
गल्ली जोग न होई ।
एक दृष्टि कर सम सर जाणे जोगी कहिए सोई ॥

गुदड़ी या कंथा पहन लेनेसे, दण्ड धारण कर लेनेसे—दण्डी बाबा कहलानेसे, भभूत लगा लेनेसे—भस्म रमा लेनेसे, सिर मुँडा लेनेसे, सिंगी बजानेसे, गप्पें मारनेसे—तरह-तरहके उपदेश करनेसे काम चलनेवाला नहीं ।

तब काम चलनेका उपाय क्या है ?
वैराग्यका, योगका रास्ता क्या है ?
रास्ता है—

'अंजन माहि निरंजन रहिये ।'

संसारकी बुराइयोंके बीच रहते हुए, सारे पाप-तापोंके बीच रहते हुए निर्लिप्त बने रहिये ।

आँखोंमें लगा लीजिये ऐसा अंजन, जिससे सर्वत्र उस एकमात्र प्रभुकी ही झाँकी दीख पड़े ।

बाहरी स्वाँगसे, बाहरी वेष-भूषासे कुछ काम नहीं निकलेगा।

× × ×

आज वैरागियोंकी कमी नहीं।

परंतु वैराग्य इतना आसान नहीं है कि भस्म रमा लेनेसे या कपड़े रँग लेनेसे आ जायगा।

वैराग्य बहुत ऊँची चीज है।

लाखोंमें कहीं एकाध सौभाग्यवान् होते हैं, जिन्हें सच्चा वैराग्य होता है।

× × ×

पंजाबके एक अत्यन्त सम्पन्न परिवारके नौजवानकी बात है।

उसे संसारसे कुछ विरक्ति हुई, ले लिया उसने संन्यास।

बड़े घरका बेटा।

संन्यासी बननेपर भी रेशमके गेरुए वस्त्र पहनता।

राजसी ठाट-बाटसे रहता।

एक दिन गुरुबाबा बोले—'बेटा! तेरे पास ये सब जो रेशमी वस्त्र हैं, इन सबको एक पोटलीमें बाँध।'

गुरुकी आज्ञा।

पोटली बाँधी उसने।

बाबाने नौकापर बैठाया उसे और बीच धारामें जब पहुँचा गङ्गाके तो कहा—'फेंक दे इसे गङ्गामें।'

बदनपर एक लंगोटीके सिवा कुछ न रहने दिया गुरुबाबाने।

फेंक तो दी उसने पोटली गङ्गामें, पर उसकी आँखोंकी कोरें गीली हो गयीं।

गुरुबाबा बोले—'जब तुझे इन्हीं सब राजसी कपड़ोंसे मोह था तो संन्यास लेनेकी कौन जरूरत थी?'

× × ×

सिद्धार्थ भगवान् राजपाट छोड़कर जब पहले दिन भिक्षान्न खाने बैठे, तब 'रूखा-सूखा रामका टुकड़ा' उनके गले नहीं उतर पा रहा था।

रोज खाते थे मोहनभोग। रोज खाते थे माल-मलीदा। रोज खाते थे षड्रस व्यञ्जन।

पर आज—रूखा-सूखा, मोटा-झोटा अन्न सामने है।

गला निगलनेको तैयार नहीं। पर सिद्धार्थ कहते हैं—'तुझे निगलना ही होगा यह रूखा-सूखा भिक्षान्न।'

रूखा और सलोना क्या रे?

क्यों?

मेरा लक्ष्य है—आत्मज्ञान।

मेरा लक्ष्य है—दुःखके मूल कारणका अनुसंधान।

वैराग्य मेरा साधन है।

'मुझे तो अपने लक्ष्यकी पूर्ति करनी है।'

षड्रस व्यञ्जन, नाना प्रकारके भोग तो राजमहलमें उपलब्ध थे ही। तब उन्हें छोड़नेकी जरूरत क्या थी?

अब तो—

'कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि।'

यह होती है—वैरागीकी दृष्टि। ऐसे महापुरुष ही वैराग्यवान् बनते हैं। कहाँ वे, कहाँ हम!

चेतावनी!

मानुष कौ तन पाय, अन्हाय, अघाय पियौ किन गंग कौ पानी।
भाषत क्यों न भयौ 'पदमाकर' रामहि-राम रसायन बानी॥
सारँगपानि के पायन कौं तजि कै, मन कौ कत होत गुमानी।
मोटी मुचंड महा मतवारिन मूँड़ पै मीच फिरै मँड़रानी॥

और सबै सँग सापनौ है, जग आपनौ एक हितू रघुराया।
ताहि न भूलिहुँ भूलियो तू, 'पदमाकर' पेखनौ पेख पराया॥
नैन मुँदे पै जहाँ-की-तहाँ जकि-सी रहि जाति जमाति औ जाया।
माया चलाई कहौ क्यों चलै, चलै आपने संग न आपनी काया॥

—पद्माकर

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

भगवान्पर निर्भर होनेकी चेष्टा कीजिये

अधिक-से-अधिक भगवान्पर निर्भर होनेकी चेष्टा कीजिये । सबसे निरापद एवं पतनके भयसे सर्वथा शून्य यह मार्ग है । इसपर दृढ विश्वास करते रहना चाहिये—भगवान् हैं, वे हमारे हैं और हमारा मङ्गल ही करते हैं ।

अपनी पसंदगी मनसे सर्वथा निकाल दीजिये । हमारी बुद्धि प्राकृत है, अज्ञानसे भरी हुई है, पापोंके संस्कारसे मलिन है, बहुत कम दूरकी बात सोचती है । बहुत बार हमलोग उस बातमें अपना मङ्गल मान लेते हैं, जिस बातसे हमारी अत्यन्त हानि होनेवाली होती है; पर भगवान्की बुद्धि भगवन्मयी है, वहाँ भूल होनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । वे हमारे लिये जो कुछ भी सोचते हैं, या सोचेंगे, उसीमें हमारा अनन्त मङ्गल है और उन्हींकी पसंदगी हमारी पसंदगी होनी चाहिये । भगवान्पर निर्भर करनेवाले भक्तको यह सदाके लिये मान लेना चाहिये कि उन्होंने (भगवान्ने) जिस परिस्थितिमें हमें रखा है, वही उन्हें (भगवान्को) मंजूर है । यदि उन्हें मंजूर न होती तो परिस्थिति अवश्य बदल जाती । ऐसा विश्वासी भक्त सारी चिन्ताओंसे मुक्त होता है । चिन्ता होती है तो इस बातकी कि कहीं हमारी निर्भरतामें तो दोष नहीं आ रहा है—हम कहीं उन्हें छोड़कर अन्य साधनोंपर, अन्य उपायोंपर तो निर्भर नहीं कर रहे हैं । भगवद्दर्शनकी चाह भी उन्हींपर छोड़ देनी चाहिये । भगवद्दर्शन शीघ्र-से-शीघ्र हो, इसका सर्वोत्तम उपाय है कि इस बातको भी उन्हींपर छोड़ दें । अत्यन्त व्याकुल हो जाना, यह दूसरे नंबरकी बात है ।

जगत्का प्रत्येक प्राणी यह चाहता है कि हमारे पास जो है, वह बना रहे और जो नहीं है, वह मिल जाय । इसीके लिये सारा संसार भटकता है । पर यदि प्राणी भगवान्पर निर्भर हो सके तो उसके लिये सब बातोंका भार स्वयं जगत्पति वहन करेंगे । जब वे स्वयं योगक्षेम चलायेंगे, तब वह योगक्षेम कितना सुन्दर होगा—इसकी कल्पना भी हमारा मलिन मन नहीं कर सकता । वे तैयार हैं और हमसे इसके बदलेमें चाहते हैं कि हम इस दुःखालय संसारका चिन्तन छोड़कर उनका चिन्तन करें । कोई कहे—'तुम दुःखकी चिन्ता छोड़ दो, अपनी जलन मिटा दो, मैं तुम्हारा सब काम कर दूँगा;' फिर भी ऐसा सौदा, वह भी स्वयं जगत्पतिके साथ, न करनेवाला महान् मूर्ख है । ये बातें भावुकताकी नहीं हैं, ध्रुव सत्य हैं । विश्वास करके आप अपने मनको पारिवारिक तथा अन्य सभी चिन्ताओंसे खाली करके प्रभुका चिन्तन कीजिये । आप देखेंगे कि इतने सुन्दर ढंगसे आपकी लौकिक एवं पारमार्थिक—सभी समस्याएँ हल होंगी कि आप मुग्ध हो जायँगे । केवल उनपर निर्भर होकर चल पड़नेकी जरूरत है, प्रमाण तो पद-पदपर मिल जायगा ।

इस निर्भरताकी परीक्षा होती है—अनुकूल परिस्थितिमें ऐसा भ्रम हो सकता है कि प्रभु-इच्छामें हमें पूर्ण संतोष है; परंतु सर्वथा मनके प्रतिकूल परिस्थितिमें जब यह भाव स्वाभाविक रहे कि 'प्रभुने बड़ा मङ्गल किया', तब समझना चाहिये कि निर्भरता हुई है । विवेकके द्वारा संतोष करना अर्थात् यह मानना कि 'प्रभु जो करते हैं, वह ठीक करते हैं, अतः यह भी ठीक ही हुआ होगा'—इस प्रकारसे प्रतिकूल परिस्थितिमें समाधान करना भी उत्तम है । पर जहाँ संतोष विवेकके द्वारा किया जाता है, वहाँ निर्भरतामें कमी है । लाचारीसे संतोष करना अर्थात् ऐसा मानना कि 'क्या करें, हमारा क्या वश है'—यह तो निर्भरतामें कलङ्क है ।

वास्तविकरूपमें निर्भर होते ही सारे शुभ-अशुभ नष्ट हो जाते हैं तथा सर्वथा नये विधानके अनुसार ही निर्भर

भक्तके जीवनके शेष दिन बीतते हैं। अतः लौकिक दृष्टिसे भी अशुभ परिस्थिति, जो अशुभ कर्मोंके फलसे प्राप्त होती है, उसके सामने प्रायः नहीं ही आती; तथापि किसी-किसी भक्तका सम्मान बढ़ानेके लिये—जगत्को दिखलानेके लिये कि भगवान्का भक्त महान् विपत्तिको भी किस प्रकार उनका विधान मानकर सहर्ष स्वीकार करता है, लौकिक दृष्टिसे अशुभ परिस्थितियाँ उनकी (भगवान्की) खास इच्छासे आती हैं। यद्यपि अधिकांश भक्तोंके जीवनमें अशुभ परिस्थितियाँ नहीं आतीं, फिर भी साधकको अपनी ओरसे यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं प्रतिकूल परिस्थितिको भी उनका विधान मानकर सर्वथा अम्लानचित्तसे स्वीकार करूँगा।' बस, सर्वथा सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित होकर भगवान्में मन लगानेकी चेष्टा कीजिये। यहाँ जो कुछ,जैसे भी हो रहा है, होने दीजिये और जितनी बार मन संसारके चिन्तनमें लगे, उतनी बार उसे संसारसे हटाकर प्रभुमें लगाइये—यही साधन करना है। प्रेम आता है कि नहीं, वृत्तियाँ सुधरती हैं कि नहीं—इसकी चिन्ता भी छोड़ दीजिये। चित्तवृत्तिकी धारा निरन्तर भगवान्की ओर हो, इतना ही करना है। यदि आप अपनी ओरसे पूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न करेंगे तो भगवान्की कृपासे सफलता मिलेगी और बहुत शीघ्र मन भगवान्में लग जायगा।

जिस क्षण आपका हृदय कातर होकर रोने लगेगा, उसी क्षण प्रभु सुन लेंगे

आप भगवान्की यह बड़ी भारी कृपा समझें कि आसक्ति आपको आसक्तिके रूपमें दीख रही है। इसका मिटना भगवत्कृपासापेक्ष है। प्रयत्नसे यह कम होती है, पर इसके नाशका सर्वोत्तम उपाय है—भगवान्के सामने सच्चे हृदयसे प्रार्थना। जिनके एक संकल्पसे विश्वका निर्माण हो जाता है और संकल्प छोड़ते ही सब नष्ट हो जाता है, वे यदि चाहें तो उनके लिये आपके इस दोषका नाश कितनी तुच्छ बात है—यह आप सहजमें अनुमान लगा सकते हैं। अन्तर्हृदयकी करुण प्रार्थनाके द्वारा आप उनमें चाह उत्पन्न कर दें। ठीक मानिये, यदि आप सच्चे हृदयसे इस दोषका नाश चाहने लग जायँ तो प्रभुको अवश्य ही दया आ जायगी और क्षणभरमें उनकी कृपासे सारे दोष मिटकर आपका मन उनमें लग जायगा। आप चाहते नहीं हों, यह बात नहीं है; पर अभी चाह बहुत मन्द है। प्रार्थना करते-करते जिस क्षण सचमुच इन दोषोंके लिये हृदयमें जलन पैदा हो जायगी और आपका हृदय कातर होकर रोने लगेगा, उसी क्षण प्रभु सुन लेंगे। अवश्य ही यह दूसरी श्रेणी-की बात है। कुछ भी न माँगना सर्वोत्तम है।

अपने आपको सर्वथा उनपर छोड़ दीजिये

भगवान् क्या, कब, कैसे करते हैं—इसे कोई नहीं जानता। वे क्या हैं, इस बातको वस्तुतः वे ही जानते हैं। पर आजतक जितने ऊँचे-ऊँचे संत हो गये हैं और हैं, उन्होंने अनुभव किया है कि वे हैं और जो कुछ करते हैं, वही ठीक है; उसीमें प्रत्येक जीवका अनन्त मङ्गल है। उनसे कुछ भी न चाहकर अपने आपको सर्वथा उनपर छोड़ देना चाहिये। अतः आप भी अपने आपको सर्वथा उनपर छोड़ दीजिये। अपनी ओरसे केवल इतनी चेष्टा करें कि जीभके द्वारा निरन्तर नाम-जप हो; उसीमें आनन्द मानिये। इतनी बात अवश्य देख लें कि अपनी ओरसे सारी शक्ति लगा दी जाय।

संत नागा निरंकारी

(लेखक—श्रीरामलाल)

संतों और महात्माओंकी महिमाका बखान करना बड़े सौभाग्य और महान् पुण्यकी बात है। संत नागा निरंकारी परम अवधूत थे। उन्होंने लोक-लोकान्तरोंके रहस्यको जन्म-जन्मान्तरसे समझा था। प्रत्येक लोकमें अपनी महती साधना-शक्तिके द्वारा वे आ-जा सकते थे। नागा निरंकारीके अनुयायियोंकी यह मान्यता है कि वे महाभारतकालीन दिव्य-जन्मधारी कर्णके अवतार थे। महाभारतके बाद उन्होंने अनेक जन्म लिये, पर सदा निवृत्ति-मार्गमें ही रहे। उन्होंने कभी विषय-भोगमें रहकर प्रवृत्तिपरायणताका परिचय नहीं दिया। नागा निरंकारीके वेषमें शरीर धारण करनेका समय विक्रमीय सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दीमें पड़ सकता है। उनकी आयु लगभग तीन सौ सालकी रही होगी और महान् आश्चर्य तो यह है कि उनके शरीरमें विकृति—परिवर्तनका दर्शन नहीं हुआ। वे परम हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ, न जाने, कितने समयसे समान आकार-प्रकारमें दीख पड़ते-से चले आ रहे थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'ब्रह्मवाणी'से पता चलता है कि जिस समय मुगलोंका शासन उत्कर्षपर था, उस समय वे सिद्धावस्था प्राप्तकर आत्मानुभूतिके राज्यमें विचरते हुए लोककल्याणमें लीन थे। ऐसा लगता है कि उन्होंने दस सिख पातशाहों—नानकोंमेंसे किन्हींको देखा था। गुरु गोविन्दसिंहके बाद गुरु-परम्पराका अन्त हो गया, वे अन्तिम नानक थे। ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट हो जाता है कि संत नागा निरंकारी या तो उनके पहले जन्म ले चुके थे या उनके समकालीन थे। 'ब्रह्मवाणी'में उनका पद है—

भज ले (श्री)नागा निरवान रे, दीवाने मन।
× × × ×
गुरु नानक करते फेरी, रे दीवाने मन ॥

इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित है कि उनके तपका प्रारम्भिक काल पंजाबमें ही बीता। उन्होंने विक्रमीय बीसवीं शतीके अन्तमें समाधि ली; ऐसी स्थितिमें इतनी लंबी आयुमें तपके प्रारम्भिक कालमें किन्हीं नानकको फेरी लगाते देखना उनके लिये सहज सम्भव है। संत नागा निरंकारी नाम-रूपके आवरणसे परे सत्स्वरूपस्थ महात्मा थे। वे अपने इस जीवनकी विभिन्न अवस्थाओंमें हरनामदास, रामदास, नागा, नागा गिरिधारी, नागा बाबा और नागा निरंकारी आदि नामोंसे प्रसिद्ध हुए।

लगभग ढाई-तीनसौ साल पहले पंजाब प्रान्तमें रावी नदीके तटपर अठीलपुर नगरमें, जिसका इस समय पता नहीं चलता, एक समृद्ध राजपरिवार था। उस राज्यकी रानी संतानहीन थीं। एक बार राजप्रासादमें एक संतका आगमन हुआ। संतने रानीको आशीर्वाद दिया कि 'तुम्हें एक पुत्र पैदा होगा, पर स्मरण रहे कि उसके सिरपर छूरा न फिरे, नहीं तो वह घरको छोड़कर वैराग्य ग्रहण कर लेगा।' कुछ समयके बाद संतके आशीर्वादरूपमें अठीलपुरके राजप्रासादमें नागा निरंकारीका जन्म हुआ। नवजात शिशुका जन्मोत्सव धूमधामसे मनाया गया। बचपनमें नागा निरंकारी-का शरीर अत्यन्त छोटा था। उनके पिता और पितामहको बड़ी चिन्ता हुई कि इतने छोटे शरीरवाले राजकुमारसे किस प्रकार राजकार्य-सम्पादन होगा। माँने संतोष किया कि यही क्या कम है कि उसकी संतान जीवित रहे। माँने अपने पतिसे कहा कि 'यदि मेरे बालकमें राजकार्य चलानेकी क्षमता नहीं होगी तो फकीरी करनेकी शक्ति तो रहेगी ही।'

नागा निरंकारीका पालन-पोषण बड़ी समृद्धि और सुखभोगके वातावरणमें हुआ। वे ज्यों-ज्यों बड़े हो रहे थे, त्यों-त्यों जन्म-जन्मके पुण्य और दानके फलस्वरूप प्राप्त उनकी गम्भीरता और दैवी सम्पत्तिमें भी अभिवृद्धि हो रही थी। राजप्रासादके पीछे एक रमणीय सरोवर था। उन्होंने अपनी शैशवावस्थाके अनेक क्षण उसी सरोवरके तटपर गम्भीर चिन्तनमें बैठकर बिताये। कभी-कभी वे बालमण्डलीमें बैठकर क्रीड़ा करते थे। माँ उन्हें बहुत मानती थीं—पिताकी अपेक्षा उनका स्नेह अपनी प्यारी संतानपर अधिक था। माता उन्हें बहुमूल्य आभूषणोंसे सजाकर बाहर खेलनेके लिये भेजा करती थीं। एक बार वे कीमती हीरेकी अँगूठी पहनकर राजप्रासादके बाहर खेलने जा रहे थे। दैवयोगसे उन्होंने एक भिक्षुकको देखा। दयासे उनके मनमें दानशीलताका भाव जाग उठा, उन्होंने बिना माँगे ही अपनी अँगुलीकी अँगूठी उतारकर भिक्षुकको दे दी। इसी प्रकार एक कीमती शाल खेलके समयमें ही वे कहीं बाहर भूल आये। सांसारिक पदार्थोंमें उनकी तनिक भी आसक्ति या रुचि नहीं थी।

नागा निरंकारी जब केवल दस-बारह सालके ही थे, पंजाबपर यवनोंका भीषण आक्रमण हुआ । उनके पिताको शत्रुओंसे लड़ने रणमें जाना पड़ा । वे युद्ध-क्षेत्रमें मारे गये । कुल-परम्पराके अनुसार नागा निरंकारीकी माँ सती हो गयीं । उन्होंने पिता और माताके स्वर्ग पधारनेपर राजप्रासादका त्याग कर दिया । वे एक संतके आश्रममें पहुँच गये । तेजस्वी बालरूपमें उनको देखकर संत बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उनका नाम हरनामदास रखा । संत किसी ओषधिके प्रयोगसे चाँदी बनाकर अपने शिष्योंकी तथा अपनी जीविका चलाते थे । नागा निरंकारी इस कार्यसे बहुत दूर रहकर बालक्रीड़ामें मग्न रहते थे । कुछ दिनोंके बाद संतके आश्रमका परित्याग कर वे तप करनेके लिये निकल पड़े ।

वे बाल अवधूतके रूपमें निर्जन स्थानोंमें निवास कर तप करने लगे । वे तपके पहले बारह सालकी अवधिमें मौन रहे । नंग-धड़ंग दिगम्बर वेषमें भ्रमण करते देखकर लोगोंने उनको 'नागा बाबा'की संज्ञासे विभूषित किया । वे बालकोंके साथ ही खेलते रहते थे । बारह सालके बाद मौन-व्रत भंग करनेपर उन्होंने वाणी-प्रतिध्वनि-व्रतका आचरण किया । उनसे मिलनेपर या उन्हें देखकर जो व्यक्ति जैसा वचन बोलता था, नागा निरंकारी उसे वैसा ही दोहरा दिया करते थे—चाहे वह प्रिय होता या अप्रिय होता । इस प्रकारके तपमें उनके जीवनके अनेक साल बीत गये । वे अनेक स्थानोंमें भ्रमणकर तप करते रहे । बालकोंके साथ खेलना ही उनकी साधनाका स्वरूप था । इस प्रकारकी साधनाके निगूढ़ भावका अनुभव उनकी कृपासे ही सम्भव है । बालक खेलते-खेलते उन्हें जिस स्थानपर छोड़कर चले जाते थे, वे वहीं तबतक बैठे रहते, या खड़े रहते, जबतक साथमें खेलनेवाले बालक उनका हाथ पकड़कर दूसरे स्थानपर न ले जाते । उन्हें भूख-प्यासकी तनिक भी चिन्ता नहीं रहती थी । यदि कोई खिला-पिला देता तो खा-पी लेते थे । इस प्रकार घोर तपमें उनके जीवनका अधिकाधिक समय बीतने लगा । वे पूरी अवधूत-वृत्तिमें थे ।

संत नागा निरंकारीने अनेक प्रान्तोंमें भ्रमणकर तप किया, पर सदा वे गुप्तरूपसे ही विचरते रहते थे । उनके तपोमय जीवनका अधिकांश प्रयाग और कानपुरके बीचके जनपदोंमें बीता । उत्तर प्रदेशके फतेहपुर जनपदमें असोथर नामक उपनगरीके निकटवर्ती वनमें उन्होंने घोर तप किया । इसके पहले अयोध्यामें तप करते उन्होंने अपने जीवनका आधा भाग बिताया था । असोथर एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है, इतिहासप्रसिद्ध भगवन्तरायकी पूर्वकालमें यह नगरी राजधानी थी । यह स्थान महाभारतप्रसिद्ध अमर अश्वत्थामाके नामसे भी सम्बद्ध है । नगरीसे थोड़ी दूरपर अश्वत्थामाके मठका ध्वंसावशेष अवस्थित है । मठसे लगी हुई एक अत्यन्त प्राचीन और निर्जन कन्दरामें संत नागा निरंकारी तप करने लगे । फतेहपुर जनपदके प्रसिद्ध संत मगनानन्द स्वामीने भविष्यवाणी की थी कि 'मेरे ब्रह्मलीन होनेके बाद ही दो पंजाब-प्रान्तीय महात्मा आकर यहाँ तप करेंगे, वे परम सम्मान्य संत हैं ।' उनकी भविष्यवाणीकी पूर्तिके रूपमें ही नागा निरंकारीका आगमन हुआ । उनके साथ एक और संत भी आये थे, कुछ समयतक गङ्गातटपर निवास करनेके बाद वे समाधिस्थ हो गये । नागा निरंकारी मौन-व्रत ग्रहणकर असोथरवाली कन्दरामें तप करते रहे । परम सौभाग्यका उदय होनेपर व्यक्तिविशेषको उनका दर्शन हो जाया करता था । धीरे-धीरे निकटवर्ती नगरोंमें उनकी कीर्ति फैलने लगी । वे नागा बाबा असोथरके नामसे प्रसिद्ध हो गये । तत्कालीन राजरानी उनके चरणोंमें असाधारण श्रद्धा रखती थीं । उनमें दीर्घकालीन तपके परिणामस्वरूप वाक्योक्तिका फिर आरम्भ हो रहा था, पर वाक्यज्ञान नहीं था । यदि कोई कहता था, 'बाबाजी, बैठो' तो वे भी कह पड़ते थे, 'बाबाजी, बैठो' । लोग उन्हें अपने-अपने घर ले जाने लगे तथा श्रद्धापूर्वक उनकी चरणधूलिसे अपने घरोंको पवित्र कराने लगे । साथमें खेलनेवाले बालकोंकी मण्डली रहती थी । असोथर-निवासकालमें एक बार वे विचरण कर रहे थे । संयोगसे एक थानेदारसे उनकी भेंट हो गयी । थानेदारने पूछा—'आप इस तरह नंगे क्यों घूमते हैं ?' नागा बाबाने उसकी बात दुहरायी, 'आप इस तरह नंगे क्यों घूमते हैं ।' थानेदारने कहा, 'ठीक तरह जवाब दीजिये ।' बाबाने कहा, 'ठीक तरह जवाब दीजिये ।' इसी समय कुछ लोगोंने थानेदारसे निवेदन किया, 'ये संत पुरुष हैं, इन्हें छेड़ना नहीं चाहिये ।' नागा बाबाको थानेदारने प्रणाम किया और वह चला गया । इसी तरह असोथरके थानेदारको उनके पागल होनेका भ्रम हो गया था । उसने बिना सोचे-समझे बाबाको अस्थायी कारागारमें डाल दिया । रातको नागा बाबाने जोर-जोरसे 'अलख' शब्दका उच्चारण किया । रानी

साहिबा उनकी आवाज पहचानती थीं। उन्होंने थानेदारको कड़ी धमकी दी और बाबा कारामुक्त हो गये।

संत नागा निरंकारी बालकोंके साथ खेलते और भ्रमण करते समय अपने आपको पूर्णरूपसे उन्हींकी चेष्टाओं-पर निर्भर कर देते थे। बालक बुलाते थे तो बोलते थे, खिलाते थे तो खाते थे; चाहे बालक उन्हें पानीमें गिरा दें, चाहे बालूमें सुला दें, चाहे ढकेल दें, उन्हें उनकी प्रत्येक चेष्टा मान्य थी। कभी-कभी तो बालमण्डलीके कारण उनके प्राण संकटमें पड़ जाते थे, पर बाल-शक्तिके रूपमें अदृश्य भगवत्-शक्ति ही उनकी ऐसे अवसरोंपर रक्षा करती थी। बालक जहाँ रातको लिटा देते थे, वहीं लेट जाते थे; कोई कुछ ओढ़ा देता था तो ओढ़ लेते थे; यदि ओढ़नेका वस्त्र नीचे गिर जाता या खिसक जाता तो उसे फिर नहीं उठाते थे। एक बार वे यमुनाजीके किनारे बालकोंके साथ खेल रहे थे। जिस गाँवके वे बालक थे, वह यमुनातटसे थोड़ी दूरपर था। नागा बाबा एक कगारपर खड़े थे, यमुनाका वेग अत्यन्त तीव्र था। बालकोंने उनको यमुनामें ढकेल दिया। वे प्रवाहके साथ बहते-बहते कोसों दूर चले आये। तटके निकट ही एक ग्राम था। कुछ बालक खेल रहे थे। नागा बाबा बाहर निकलकर पहलेकी ही तरह उनके साथ खेलने लगे।

एक बार उन्होंने यह धारणा बना ली थी कि जिस दिशाकी ओर पैर बढ़ें, उसी ओर चलते रहना चाहिये, पीछे नहीं लौटना चाहिये। उत्तर दिशाकी ओर चलनेपर नैपाल जा पहुँचे, नैपालसे तिब्बत और तिब्बतसे चीन पहुँच गये। चीनमें वे किसीकी भाषा नहीं समझ पाते थे। यदि कोई खाने-पीनेके लिये कुछ दे देता तो प्रसन्नतासे खा-पी लिया करते थे। किसीसे कुछ माँगनेकी वृत्ति तो थी ही नहीं। चीनमें वे एक अंग्रेजके बगीचेमें जा पहुँचे; जबतक वे चीनमें थे, उन्होंने उसी बगीचेमें निवास किया। अंग्रेज सज्जनने उनको भारतीय संत समझकर अनुकूल भोजन आदिका प्रबन्ध कर दिया। बड़ी सेवा की। चीनसे ब्रह्मदेश तथा आसाममें विचरते हुए वे भारत आये।

संत नागा निरंकारी उच्चकोटिके सिद्ध पुरुष थे; बड़े भगवद्विश्वासी थे। वे कहा करते थे कि 'प्रत्येक अवस्थामें भगवान्पर निर्भर रहना चाहिये; यही सबसे बड़ी आस्तिकता है। एक समय वे भ्रमण करते-करते एक लंबे और सघन वनमें पहुँच गये। कोसोंतक बस्तीका नाम नहीं था। वे तीन-चार दिनके भूखे-प्यासे थे। वनमें उन्हें एक सतीकी समाधि दीख पड़ी। वे ध्यानस्थ होकर बैठ गये। थोड़े समयके बाद सती थालीमें भोजन तथा मेवे, मिष्टान्न और फल लेकर प्रकट हो गयीं। नागा बाबाने भोजन किया, सती अदृश्य हो गयीं। इस तरह एक रहस्यमयी भागवती शक्ति सदा उनकी रक्षामें तत्पर थी।

एक बार नागा बाबा बदरीनारायणकी यात्रा कर रहे थे। साथमें दो व्यक्ति और थे। संत नागा लक्ष्मणझूलाके मध्य भागसे गङ्गाजीमें कूद पड़े। गङ्गाजी उस स्थानपर बहुत गहरी हैं, धारा अमित तेज है। साथके व्यक्ति लक्ष्मणझूलेवाली घटनाकी सूचना कानपुरके किसी शिष्य-को तारद्वारा देकर आगे बढ़ गये। कुछ समयके बाद फतेहपुर जनपदमें बालमण्डलीके साथ उनको खेलते और विचरते देखकर लोग आश्चर्यचकित हो गये। इस घटनाके सम्बन्धमें उन्होंने बताया था कि 'जब मैं लक्ष्मणझूलापर था, मुझे ऐसा लगा कि गङ्गाजीके नीचे ऋषिमण्डली है। मैं उसमें सम्मिलित होनेके लिये कूद पड़ा।' बात ठीक थी, ऋषिमण्डलीमें पहुँचनेपर मेरा पैर एक चक्रमें पड़ गया। ऋषियोंको मेरी उपस्थितिसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उनसे बात कर मैं लौट आया। इस घटनासे उनकी दिव्य दृष्टि और अपार योगशक्तिका पता चलता है।

वे परम तपस्वी थे। बदरीनारायण-यात्रा-कालमें ही वे एक दिन एक चट्टीपर विश्राम कर रहे थे। वे ध्यानमें तल्लीन थे। उनके साथके शिष्यने देखा कि साँपके आकार-प्रकारका एक लंबा तेजोमय प्रकाश नागाजीके सामने आकर अदृश्य हो गया। ध्यानके बाद शिष्यके पूछनेपर वे मुसकुराने लगे। उन्होंने बतलाया कि साक्षात् भगवान् बदरीनारायण अपने परम तेजोमय रूपमें उन्हें दर्शन देने आये थे।

संत नागा निरंकारी ध्यानयोगी थे। वे कहा करते थे कि 'ध्यानयोगकी बड़ी महिमा है। ध्यानयोगसे मैंने लक्ष्मीजीका दर्शन किया था, सतीजीसे भिक्षा प्राप्त की थी। ध्यानमें मुझे लक्ष्मीजीने दर्शन देकर मेरे दाहिने हाथपर अपने हाथके अंगूठेकी छाप लगा दी और कहा—

'तुमको भगवान्‌के पास जानेसे कोई नहीं रोक सकता।' उस छापकी सहायतासे मैं भगवद्धाममें गया। हनुमान्‌जीने मुझे रोकनेकी चेष्टा की, पर छाप देखकर विवश हो गये। जय-विजयका भी प्रयत्न विफल हो गया। मैंने भगवान्‌का परम दिव्यरूप देखा, उनके कुण्डल और किरीट-मुकुट बड़े दिव्य थे।'' संत नागा निरंकारीके जीवनकी इन दिव्य घटनाओंका श्रद्धा और विश्वासके प्रकाशमें ही दर्शन किया जा सकता है। ये अतर्क्य हैं। उनका स्पष्ट कहना था कि 'जो जीव निर्भय है, उसीको हम अपना निकटस्थ मानते हैं। जो जीवात्मा जितना ही अधिक दैन्यभावसे युक्त और निरभिमानी होगा, वही ध्यानावस्थामें हमसे मिल सकता है।'

संत नागा निरंकारी संकल्प-विकल्पोंसे परे थे। सदा भगवदानन्दके पारावारमें निमग्न रहते थे। एक बार असोथरके राजपरिवारके एक विशिष्ट सदस्यके आग्रहसे वे राजप्रासादमें गये। चलते समय उनके शरीरपर उन व्यक्तिने एक कीमती दुशाला डाल दिया। वे बालमण्डलीके साथ खेलते-खेलते अपनी कुटीपर आये, धूनी जल रही थी। धूनीके सामने बैठ गये। दुशाला धूनीमें गिरकर जल गया। विरक्तिके हिमालयपर अवस्थित नागा निरंकारीने लोभकी ज्वालामुखीपर हाथ नहीं रखा।

संत नागा निरंकारी परमात्माके विराट्‌रूपके अखण्ड ध्यानमें लीन रहते थे। मायासे परम अलिप्त होकर वे आत्मराज्यमें सदा प्रतिष्ठित थे। वे प्रदर्शन और चमत्कारसे सदा दूर रहते थे। भगवान्‌के नाम-जपपर बड़ा जोर देते थे। जप और ध्यानयोगमें ही उन्होंने अपनी तपोमयी साधनाका परम स्वरूप स्थिर किया। उनकी सदा सहज समाधि लगी रहती थी। वे परमहंसपदमें प्रतिष्ठित होकर अपनी दिव्य अलौकिक दृष्टिसे विश्वमय, विश्वाधार, सत्स्वरूप परमात्माका दर्शन करते रहते थे। वे जन्म-जन्मान्तरसे वैराग्यके अभय राज्यमें विचरते हुए कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत अवस्थाओंको पार कर नागा निरंकारीके रूपमें नाम-शरीर अपनाकर अभिव्यक्त हुए थे। कर्मभोगसे ऊपर उठनेका एकमात्र उपाय उन्होंने परमात्माका भजन बताया। उन्होंने कहा कि 'पुण्यकार्य बढ़ा देने तथा परमात्माका निरन्तर भजन करनेसे पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। सुखेच्छापूर्तिमें पुण्य साधक होते हैं और पाप बाधक। उन्होंने निर्गुण-निराकार चिन्मय परमात्मतत्त्वका ही भजन किया। ध्यानस्थ होनेपर वे भगवान्‌के विभिन्न रूपोंका दर्शन करते थे। ध्यानमें उन्हें लोक-लोकान्तरके दृश्य दीख पड़ते थे। वे कहा करते थे, 'तत्त्वज्ञान भीतरसे होगा। भजन करो, जप करो, ध्यान करो—जो कुछ भी करो, उसे मनसे करो। सब जीव परब्रह्ममें ही रहते हैं, परब्रह्मकी खोज अपने भीतर करो। अपने आपको परब्रह्ममें ही अनुभव करो। उन्होंने सत्य-नाम कर्तापुरुषका अपने एक पदमें वर्णन किया है तथा उनसे प्रार्थना की है—

पड़ी मेरी नइया विकट मँझधार।
यह भारी अथाह भवसागर, तुम प्रभु करो सहार॥
आँधी चलत, उड़ात झराझर, मेघ-नीर-बौछार।
झाँझर नइया भरी भारसे, केवट है मतवार॥
किहि प्रकार प्रभु लगूँ किनारे, हेरो दया-दिदार।
तुम समान को पर-उपकारी, हो आला सरकार॥
खुले कपाट-यंत्रिका हियके, जहँ देखूँ निरविकार।
'नागा' कहैं, सुनो, भाई संतो। सत्य-नाम करतार॥'

(ब्रह्मवाणी)

उन्होंने अखण्ड, निर्विकार, परम चेतन तत्त्व परमात्माका आजीवन चिन्तन किया। वे लोक-लोकान्तरोंमें ध्यानमें विचरण करते थे। उन्होंने ध्यानमें सुमेरु पर्वतको भी देखा था और उसे सिद्धोंका निवासस्थान बताया था। वे ध्यानमें इन्द्रलोकमें भी गये थे। उन्होंने इन्द्रलोकका बड़ा सुन्दर अनुभवपूर्ण वर्णन किया है।

संत-वाणी परम अनुभूतिमयी होती है। संत नागा निरंकारीके अनुभवपूर्ण शब्द उतने ही सत्य हैं जितने सत्य परब्रह्म परमात्मा हैं। संत-साहित्य-जगत् उनकी महती देन 'ब्रह्मवाणी'के लिये उनका सदा आभारी रहेगा। उनकी 'ब्रह्मवाणी' अलौकिक वाङ्मय है। उनकी उक्ति है कि मन लगाकर परमेश्वरका भजन करनेसे हृदय निर्मल होनेपर सत्यज्ञानकी प्राप्ति होती है और परम शान्ति मिलती है।

संत नागा निरंकारी जीवमात्रके प्रति दयालु थे। अपने लिये वे कठोर तपस्वी और सहनशील थे। दीन-दुःखियों और अभावपीड़ितोंकी सेवा और पापियोंके समुद्धारके लिये ही उन्होंने शरीर धारण किया था। वे

किसीकी निन्दा-स्तुतिके फेरमें कभी नहीं पड़ते थे। वे परम करुणामय थे। उनकी उक्ति है—'सब परमात्माके जीव हैं, किसीपर कोप न करके दया ही करनी चाहिये। सब जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगते हुए गति पाते हैं। भूमिपर चलनेवाला प्राणी एकदम आकाशमें किस तरह उड़ सकता है; सबकी उन्नति धीरे-धीरे ही होती है। सब जीवोंको परमात्मा देखते हैं। वे ही सबके स्वामी हैं। हमें अपनी ओरसे किसी जीवको भी नहीं सताना चाहिये।'

संत नागा निरंकारीने जीवनके अन्तिम दिन कानपुर जनमदके पाली-नामक स्थानपर बिताये। पालीका राजपरिवार उनमें अतुल श्रद्धा रखता था। वे पाली-निवासकालमें अपनी सहज अवधूत-अवस्थामें प्रतिष्ठित थे। पालीके कण-कणमें उनकी दिव्य आत्माभिव्यक्तिका दर्शन होता है। उन्होंने अपने परमधाम-कैलासलोक-गमनकी बात बहुत पहले ही कह दी थी। पाली-कुटीके सामने चनेका एक खेत था। नागाजीने कहा कि 'हमने ध्यानमें देखा है कि इसी चनेके खेतमें लोग हमारे शरीरको चितामें जला रहे हैं।' उन्होंने इस तरह संकेत कर दिया कि इसी स्थानपर मेरा समाधि-मन्दिर बनेगा। अपने ही कथनके अनुरूप संवत् १९९३ वि०की कार्तिक शुक्ल चतुर्दशीको उन्होंने रातमें कैलासलोककी प्राप्ति की। उनके शरीरका दाह-संस्कार पालीराज्यके उसी चनेके खेतमें विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। उस स्थानपर उनका भव्य समाधि-मन्दिर जगत्‌को सत्य, शान्ति और प्रेमका दिव्य संदेश देता हुआ अवस्थित है; समाधिके दर्शनमात्रसे मन शान्तिके गम्भीर सागरमें निमग्न होकर दिव्य, शाश्वत-अखण्ड सत्यामृतका रसास्वादन करता है। नागा निरंकारीकी समाधिकी दिव्यता और नीरवतासे मन मुग्ध हो उठता है; यह समाधि-मन्दिर उनकी तपस्याका भौम स्मारक है। संत नागा निरंकारी ब्रह्मयोगी, परम अवधूत और तपस्वी संत थे।

भक्तवत्सल भगवान्‌के भरोसे निर्भय-निश्चिन्त रहिये

भगवान् भक्तवत्सल हैं; उनकी भक्तवत्सलता अनुपम एवं अनोखी है। भक्तकी पुकार सुनकर भगवान् अधीर हो जाते हैं और ऐसी चतुराईसे उसकी रक्षा करते हैं कि भक्त विस्मित हो जाता है। लोग अपने धन-मद, शक्ति-मद, अधिकार-मद, कौशल-मद आदिसे चूर होकर दूसरोंको धमकी देते हैं—'हम तुम्हारा सर्वनाश कर देंगे', परंतु जानते नहीं कि मारनेवालेसे बचानेवालेके हाथ बहुत लंबे एवं पुष्ट हैं। दूसरे, यह नियम है कि किसीका बुरा तभी होगा, जब प्रारब्धवश उसका बुरा होना होगा; अन्यथा सब प्रयास विफल हो जायँगे। हाँ, दूसरोंका बुरा करनेका प्रयत्न करके कोई अपनी आत्माका पतन, अपनी हानि चाहे कर ले। भक्तोंने इस सत्यको अनुभव किया है और सबको आश्वासन दिया है—'बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय।' भक्त सूरदासजीने निम्नाङ्कित पदमें भगवान्‌की भक्तवत्सलताका एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया है और बताया है कि पक्षीकी प्रार्थनापर भगवान् किस अनोखे ढंगसे बहेलिये एवं बाजको ही नष्ट करके उसकी रक्षा करते हैं—

अब कें राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरियाँ, पारधि साध्यौ बान॥
ताकें डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान?
सुमिरतहीं अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान।
'सूरदास' सर-लग्यौ सचानहिं, जय-जय कृपानिधान॥

भगवान्‌की भक्तवत्सलतापर विश्वास कीजिये और हर स्थितिमें निर्भय-निश्चिन्त रहिये।

प्रार्थना

मेरे मनमें समाये घने अन्धकारको दूर कर दो !

मेरे चिर सहचर,

तुम्हीं तो मेरे जन्म-जन्मके साथी हो। मेरे मनके मीत, प्यारे-से-प्यारे, अपने-से-अपने हो तुम ! तुम्हीं तो मेरे मूर्तिमान् आनन्द हो। मुझे अनन्त सुख प्रदान करनेके लिये ही तुम्हारी नित्य सत्ता है। हे आनन्दनिधान ! तुम मेरे हो, फिर भी मैं आनन्द-विरहित हूँ—यह किस कारणसे हो रहा है ?

मेरा यह जीवन दुःखरूप है। प्रारम्भसे अवसानपर्यन्त विविध वेषोंमें दुःखोंका दर्शन ही जीवनमें होता रहता है। मेरी ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण नियति तुमने क्यों की ? सागरमें रहकर भी मीन जीवनभर प्यासा ही क्यों बना है ? यह क्या विडम्बना है ?

इस दुःखालय एवं दुःखयोनि जगत्में जन्म धारणकर मैं भ्रमवश दुःखोंको ही सुख समझता रहा हूँ। सुख पानेकी लालसासे नये-नये तथा अधिकाधिक दुःखोंकी ही अभिलाषा मैं जीवनभर करता रहा हूँ। यत्न करके नये-नये दुःखोंकी प्राप्ति करता हूँ। दुःख पाने, दुःखोंसे ही घिरे रहनेका स्वभाव हो गया है मेरा। स्वभाववश ही दुःखी हूँ मैं।

जो यथार्थ सुख है, उससे जी चुराता हूँ। सुखकी पहचान नहीं है मुझे। जिस दुःख-पङ्कमें आकण्ठ डूबा हूँ, उससे भिन्न कोई सुख नामकी वस्तु भी है—यह विश्वास ही नहीं रहा मुझे। इसीलिये इस दुःखालयको त्यागकर सुखके केन्द्रकी ओर चल पड़नेका विचार भी कभी मनमें नहीं आता। यथार्थ सुखके अस्तित्वका आभास भी नहीं है मुझे। तुम्हीं कहो, इस दुःखरूपी संसार-महाभ्रमसे मेरी मुक्ति कब होगी ?

जब कभी भूले-भटके तुम्हारा चिन्तन करने लगता हूँ, मन सुखसे भर जाता है। तुम ही सुख हो—यह सत्य तब मेरे मनमें प्रकाशित होने लगता है। फिर भी अभ्यासवश पुनः जगत्के विषयोंमें ही सुख पानेकी चाहसे भटकने लगता हूँ तथा वही दुःखका आवर्त्त मुझे पुनः ग्रस्त कर लेता है।

मेरे नियन्ता ! क्या मुझे राह नहीं दिखाओगे ? क्या मेरा सम्पूर्ण जीवन इस अज्ञानव्यूहमें ही भटकता रहेगा ? इस दुःख-महाभ्रममें मैं कबतक दिग्भ्रान्त बना रहूँगा ? कबतक मेरी आँखें इस महामोहके आवरणसे आच्छादित रहेंगी ?

आओ, आओ, हे ज्ञानसूर्य ! मेरे मनमें समाये इस घने अन्धकारको अपनी सत्यरश्मियोंसे दूर कर दो ! दुःख-पङ्कमें आकण्ठ डूबे हुए मुझको अपनी सबल बाँहोंका सहारा देकर उबार लो। कीचड़से लथपथ मेरे अङ्गोंको अपने स्नेह-वारिसे प्रक्षालित करके निर्मल बना दो। अपने प्रेमपूर्ण करतलोंसे मेरी आँखोंपर पड़े हुए मोहके आवरणको दूर कर अपना ऋषि-मुनि-वाञ्छित दिव्य दर्शन प्रदानकर मेरे नेत्रोंको चिर कृतार्थ करो। मुझे सदा-सर्वदाके लिये प्रेमसमुद्रकी आनन्द-लहरियोंमें निमज्जित कर दो। अनन्तकालतक मैं प्रेमोदधिकी तरंगोंमें लहर बनकर लहराता रहूँ, ऐसी स्थिति कब करोगे, मेरे नाथ !

—तुम्हारा ही अपना एक

आशुतोष

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।
खलानां दण्डकृद्योऽसौ शंकरः शं तनोतु मे ॥
(मानस ६ । श्लोक३)

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'दानी कहुँ संकर सम नाहीं।'
(विनयपत्रिका ४)

भगवान् गङ्गाधरके समान उदार दानी कहाँ मिलेगा—ऐसा दानी, जो वरदान देकर स्वयं संकटमें पड़ जाय। वृकासुर (भस्मासुर) के तपसे आप संतुष्ट हुए तो उसने वरदान माँगा—'जिसके सिरपर मैं हाथ रख दूँ, वह भस्म हो जाय !'

दुष्ट असुरके मनमें पाप है—उसकी कुदृष्टि भगवती उमापर है, क्या यह सर्वज्ञको ज्ञात नहीं था ? किंतु उन्हें यह भी ज्ञात था कि उमा जब क्रुद्ध होती हैं—महाकाली हो जाती हैं और तब समस्त सुरासुर उनके खप्परकी अग्निमें भस्म हो जाते हैं। उन निखिलेश्वरीके लिये आशङ्काका कारण कभी उत्पन्न नहीं हुआ। रही अपनी बात—अपने लिये आशुतोष किसीको 'ना' करें, यह कैसे सम्भव है। उन्होंने जानते-समझते उस असुरको 'एवमस्तु' कह दिया।

असुर अपने वरदाताके मस्तकपर ही हाथ रखनेके लिये झपट पड़ा। भागे भोलेनाथ; क्योंकि स्वयं अपना वरदान मिथ्या किया नहीं जा सकता और जिसे एक बार स्नेह-पात्र स्वीकार कर लिया, उसपर भला त्रिशूल कैसे उठाया जा सकता है।

'ये तो भाँग छाने रहते हैं।' लीलामय श्रीहरि ब्रह्मचारी बनकर आ गये वृकासुरके सम्मुख और बोले—'असुरेश ! तुम इतने बुद्धिमान् होकर इन श्मशानवासी औघड़की बातपर विश्वास कैसे कर बैठे ? इतनी दौड़धूपकी क्या आवश्यकता ? इनके वरदानकी परीक्षा करनी है तो अपने सिरपर हाथ रखकर कर लो ! भला, कोई नशेमें रहनेवाले फक्कड़पर भरोसा करता है !'

वृकासुरको तो मरना था। महापुरुषकी अवमानना करके ही किसीकी कुशल नहीं होती, वह तो महेश्वरका अपमान कर रहा था। उसकी बुद्धि तो पहले ही भ्रष्ट हो चुकी थी। उसने चौंककर अपने सिरपर हाथ रखा और भस्म हो गया।

× × ×

वाणासुर अपनी सहस्र भुजाओंमें नाना वाद्य लेकर नाचता हुआ स्तुति करने लगा तो प्रसन्न हो गये आप और बोले—'वरदान माँगो।'

'आप मेरे नगर-रक्षक बन जाइये !' असुरने यह भी चिन्ता नहीं की कि त्रिभुवनके स्वामीको मैं अपना सेवक बना रहा हूँ।

'एवमस्तु'—दूसरी बात कहना ही नहीं आता भगवान् चन्द्रमौलिको ! आप असुरके नगरपाल बन गये। कैलासका एकान्तवास गया और समाधि भी गयी। हाथमें त्रिशूल लिये नगररक्षा करते रहो। कबतक ? कुछ पता नहीं।

'मेरी भुजाएँ खुजला रही हैं। कोई समबल योधा मिलता नहीं। आप ही समबल दीखते हैं।' उद्धत वाणासुरने एक दिन युद्ध करनेकी ही चुनौती नगरपाल बने अपने इष्टदेवको दे दी।

'मेरे समान शूर तुम्हें मिल जायगा।' भगवान्ने त्रिशूल नहीं उठाया। जिसपर अनुग्रह किया, उसका अनिष्ट स्वयं अपमान सहकर भी करना उनको स्वीकार नहीं था।

वाणासुरको तब वह शिव-समबल योधा मिला, जब द्वारकाकी नारायणी सेनाने शोणितपुरको घेर लिया और पाञ्चजन्यका घोष करके जब द्वारकानाथने अपने शार्ङ्गधनुष-पर वाण चढ़ाया, स्वयं पिनाक लिये नीलकण्ठ आश्रित असुरकी रक्षाके लिये अपने ही दूसरे स्वरूप—अपने हृदयधनसे युद्ध करने आ गये। अकेले नहीं, पूरे परिवार और गणोंके साथ भगवान् रुद्र वाणका पक्ष ले रणभूमिमें उतरे।

भूत-प्रेत शार्ङ्गधन्वाके नामसे भागते हैं। हलधर जब अपना मुसल उठायें, कोई दो क्षण भी सम्मुख टिक नहीं सकता। दिव्यास्त्रोंकी झड़ी परस्पर टकराती रही और अन्तमें द्वारकाधीशने जृम्भणास्त्रसे भूतनाथको निद्रित कर दिया। अब उठा चक्र और उसने वाणासुरकी उन

भुजाओंको छाँटना प्रारम्भ किया, जिनके गर्वपर उसने गङ्गाधरका अपमान किया था।

'यह मेरा है। मैंने इसे अभय दिया है। आप मुझपर अनुग्रह करके इसकी रक्षा करें।' तन्द्रासे जागते ही आशुतोषने देख लिया कि अमोघ चक्र चल चुका है और उसका वारण तो उसका प्रयोक्ता ही कर सकता है। वाणासुरके लिये वे स्वयं प्रार्थना करने पहुँच गये।

'आपका जो है, वह मेरा है।' चक्रधारी हँस पड़े। 'किंतु अब यह आपका गण होकर रहेगा। आप इसके पुरपाल नहीं, इसके स्वामी!'

वाणको प्राणदान ही नहीं मिला, उसे अभिमानसे मुक्ति मिली और शाश्वत शिवगणत्वकी प्राप्ति हुई।

× × ×

अमृत चाहिये देवता तथा असुरोंको। क्षीरोदधिका मन्थन करनेसे पूर्व किसीने सोचातक नहीं कि अमृत जहाँ होगा, वहाँ विष भी हो सकता है। सबको सदा उद्योगके प्रारम्भमें सफलताके ही स्वप्न आते हैं। समुद्र-मन्थनके फलस्वरूप सबसे प्रथम प्रकट हुआ हलाहल विष। वह वायुसे छितराने लगा। सबके प्राण सङ्कटमें पड़ गये।

'प्रभो! अब आप ही अपनी प्रजाकी रक्षा कर सकते हैं।' प्रजापतियोंने कैलास पहुँचकर पुकार की।

अमृतकी आशामें उद्योग प्रारम्भ करते समय किसीने पूछा नहीं था, किसीको शंकरजीकी सम्मति लेना आवश्यक नहीं लगा था; जब विषकी ज्वाला उठी, सब पुकारने पहुँच गये।

'डरो मत!' जब कोई पुकारने पहुँचे, समर्थ दयाधाम उस आर्तको अभय देनेसे पीछे हट सकता है? अपने बच्चोंको जगत्पिता अभय नहीं देगा? विश्वनाथ उठ खड़े हुए। फैले हुए विषको उन्होंने समेटा और उठाकर पी गये। कण्ठमें स्थापित कर दिया उसे।

भगवान्‌का विषसे नीला पड़ गया कण्ठदेश—वह तो शरणागतके लिये परमाश्वासन है। अपने चरणोंमें आये आर्तके लिये वे भव-विष पी जानेको सदा उद्यत हैं। उन नीलकण्ठके सम्मुख पहुँचकर कोई भीत, दुःखित रह नहीं सकता।

× × ×

'प्रभु! मेरे पूर्वजोंका उद्धार गङ्गाजलके बिना सम्भव नहीं है।' तपसे संतुष्ट होकर चन्द्रमौलिने दर्शन दिया तो भगीरथने प्रार्थना की।

'गङ्गा तो सृष्टिकर्ताके कमण्डलुमें हैं, वत्स!' भोलेबाबा सहजभावसे कह रहे थे।

'वे धरापर आनेको प्रस्तुत हैं; किंतु उनका वेग धरित्री सहन नहीं कर सकती।' भगीरथने अपनी कठिनाई निवेदन की।

'तुम उनको अवतीर्ण होनेको कहो!' आशुतोषने समाधान कर दिया। 'मैं उनको—उनके वेगको सम्हाल लूँगा! वे विष्णुपदी मेरे मस्तकपर पधारें।'

भगीरथके लिये वे मूड गङ्गाधर बन गये। उन्होंने सदाके लिये गङ्गाजीको अपने मस्तकपर धारण कर लिया। धरापर एक सूक्ष्म धारा गङ्गाकी उनकी अनुकम्पासे आ सकी।

× × ×

'यह बालक अल्पायु है।' बड़ी तपस्यासे तो ऋषि मृकण्डके पुत्र हुआ; किंतु ज्योतिर्विदोंने उस शिशुके लक्षण देखकर ऋषिके हर्षको चिन्तामें परिवर्तित कर दिया। उन्होंने उसी दिन बतला दिया—'इसकी आयु केवल बारह वर्ष है!'

'देवि! चिन्ता मत करो। विधाता जीवके कर्मानुसार ही आयु दे सकते हैं; किंतु मेरे स्वामी समर्थ हैं।' मृकण्डने पत्नीको आश्वस्त किया—'भाग्यलिपिको स्वेच्छानुसार परिवर्तित कर देना भगवान् शिवके लिये विनोदमात्र है।'

ऋषि मृकण्डके पुत्र मार्कण्डेय बढ़ने लगे। शैशव बीता और कुमारावस्थाके प्रारम्भमें ही पिताने उन्हें शिवमन्त्र-की दीक्षा तथा शिवार्चनकी शिक्षा दी। पुत्रको उसका भविष्य बताकर समझा दिया कि पुरारि ही उसे मृत्युसे बचा सकते हैं।

माता-पिता तो दिन गिन रहे थे। बारह वर्ष आज पूरे होंगे। मार्कण्डेय मन्दिरमें बैठे हैं रात्रिसे ही और उन्होंने मृत्युंजयकी शरण ले रखी है—

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।' (शु० य० ३। ६०)

सप्रणव बीजत्रय-सम्पुटित महामृत्युंजय मन्त्र चल रहा है।

काल प्रतीक्षा नहीं करता। यमराजके दूत समयपर आये और संयमनी लौट गये। उन्होंने अपने स्वामीसे निवेदन किया—'हम मार्कण्डेयतक पहुँचनेका अपनेमें साहस नहीं पाते।'

'मृकण्डके पुत्रको मैं स्वयं लाऊँगा!' दण्डधर यम महिषारूढ़ हुए और उन्हें कितने क्षण लगने थे चिन्तित स्थलपर उपस्थित होनेमें। बालक मार्कण्डेयने उन कज्जलकृष्ण, रक्तनेत्र पाशधारीको पाश उठाते देखा तो सम्मुखकी लिङ्गमूर्तिसे लिपट गया।

'हुम्!' एक अद्भुत अपूर्व हुंकार और मन्दिर, दिशाएँ जैसे प्रचण्ड प्रकाशसे चकाचौंध हो गयीं। शिवलिङ्गसे तेजोमय त्रिनेत्र गङ्गाधर चन्द्रशेखर प्रकट हो गये थे और उन्होंने त्रिशूल उठा लिया था। 'तुम मेरे आश्रितपर पाश उठानेका साहस करते हो?'

'मैं आपका सेवक!' डाँट पड़नेसे भी पूर्व यमने हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया था। वे अत्यन्त नम्र स्वरमें बोले—'कर्मानुसार जीवको इस लोकसे ले जानेका निष्ठुर कार्य प्रभुने इस सेवकको दिया है।'

'यह संयमनी नहीं जायगा! इसे मैंने अमरत्व दिया!' मृत्युंजय प्रभुकी आज्ञाको यमराज अस्वीकार कर सकते थे? उनको लेकर महिष लौटा जा रहा है, मार्कण्डेयने यह देख लिया।

'उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।'

'वृन्तच्युत खरबूजेके समान मृत्युके बन्धनसे छुड़ाकर मुझे अमृतत्व प्रदान करें।' मन्त्रके द्वारा चाहा गया वरदान उनको सम्पूर्णरूपसे उसी समय प्राप्त हो गया।

भाग्यलेख—वह औरोंके लिये अमिट होगा; किंतु आशुतोषके आश्रितोंके लिये भाग्यलेख क्या? भगवान् ब्रह्मा—भाग्यविधाता स्वयं भगवती पार्वतीसे कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी॥

× × × ×

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकन कौ नाक सँवारत हौं आयो नकबानी॥

(विनयपत्रिका ५)

आक-धतूरेके फूल, बिल्वपत्र और जल—इतनी सीधी-सी पूजा पर्याप्त है भगवान् आशुतोषके लिये और उनका दरबार सबके लिये खुला है। अधिकारी-अनधिकारीका कोई प्रश्न नहीं है। देव-दानव, मानव-राक्षस—सब उनकी सेवा कर सकते हैं और सब उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं।

जो श्मशानमें या पर्वतपर वृक्षके नीचे रहता है, उसके समीप पहुँचनेमें अवरोध कहाँ। जो भूत-प्रेत-पिशाचोंको अपना गण बनाकर साथ रखता है, उसकी सेवामें अधिकारीका प्रश्न कैसा और जो धतूरे, बिल्वपत्र तथा भस्मसे संतुष्ट है, उसकी आराधनामें श्रम कहाँ। उस विश्वनाथको केवल हमारी प्रणति चाहिये। वह आशुतोष तो नित्य सुप्रसन्न है।

यम-पाशसे मुक्तिका अमोघ उपाय

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया॥
प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्। न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥
सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥

(श्रीमद्भागवत ६।१।१६, १८-१९)

पापी पुरुषकी जैसी शुद्धि भगवान् श्रीकृष्णको जीवन-अर्पण करनेसे और उनके भक्तोंका सेवन करनेसे होती है, वैसी तपस्या आदिके द्वारा नहीं होती। जैसे शराबसे भरे घड़ेको नदियाँ भी पवित्र नहीं कर सकतीं, वैसेही बड़े-बड़े प्रायश्चित्त बार-बार किये जानेपर भी भगवद्विमुख मनुष्यको पवित्र करनेमें असमर्थ हैं। जिन्होंने अपने भगवद्गुणानुरागी मन-मधुकरको भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्द-मकरन्दका एक-बार पान-करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित्त कर लिये। वे स्वप्नमें भी यमराज और उनके पाशधारी दूतोंको नहीं देखते, फिर नरककी तो बात ही क्या है।

वासनाका उदात्तीकरण

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

बाजे बज रहे हैं! शहनाईकी मङ्गलमय ध्वनि आ रही है। अतिथियोंका आना-जाना, संगीत और आवागमन-की चहल-पहल, बच्चोंकी शरारत, रंगीन वस्त्रोंमें नारियोंका जमघट है। लगता है मुहल्लेमें कोई विवाह हो रहा है!

'आज किसका विवाह है?'

'अरे भाई, रामकृष्णकी आयु तो केवल आठ वर्षकी ही है। इतनी छोटी अवस्थामें शादी है! आश्चर्य है!'

'हाँ, हाँ, आश्चर्यकी तो बात ही है। उसकी दुलहिन तो बच्ची ही होगी अभी!'

'इतने छोटे अबोध बच्चोंका, जो शादीका मतलब-तक नहीं समझते, विवाह कर देना महज मूर्खता ही है।'

'पिछड़ापन है! इन लोगोंसे कौन कहे कि बाल-विवाह हमारे देशका एक बड़ा अभिशाप है। लड़का हुआ नहीं कि विवाह-शादीकी फिक्र होने लगती है।'

'देखो तो, न बच्चेको पढ़ाना, न लिखाना! न तन ढकनेकी शऊर, न वस्त्र पहननेका सलीका''और उधर विवाह रचाया जा रहा है! बच्चोंका खेल बना लिया है विवाहको! यह कैसा अन्ध-विश्वास, जडता और मूर्खता है हमारे मुल्कमें!'

किंतु उपर्युक्त आलोचनाओंके बावजूद गुड्डे-गुड्डियोंकी तरह रामकृष्ण और शारदामणिका विवाह सम्पन्न करा दिया गया। नन्हीं-सी बहू छमछम करती लाल चुनरी पहने घरमें फिरने लगी। विवाहित बच्चोंका जीवन खेल-खेलमें चलता रहा।

धीरे-धीरे बालक रामकृष्ण बड़ा हुआ। वह चिन्तन-शील प्रकृतिका समझदार बालक था। गम्भीर आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक साहित्यके प्रति उसका झुकाव था। वह क्रमशः धर्म-दर्शनकी ओर विकसित होता गया।

कुछ युवक आयुसे पहले ही ज्ञान-वृद्ध हो जाते हैं। रामकृष्ण खूब पढ़ता, स्वाध्याय करता, दर्शन, धर्म, संस्कृति, आत्मसुधार आदि विषयोंमें अपना ज्ञान बढ़ाता गया। उसे आत्मज्ञान हुआ और उसने यह निष्कर्ष निकाला कि इस क्षणभङ्गुर भौतिक संसारकी नश्वर वस्तुएँ उसके लिये नहीं हैं, वह तो समाजमें नैतिक और आध्यात्मिक जागृति लानेके लिये, आध्यात्मिक पुनरुत्थान और धार्मिक ज्ञानके वितरण करने, समाजको वासनाके मोहक-मादक जालसे छुड़ानेके लिये आया है। ईश्वर-विश्वास और आस्तिकताकी पुनीत भावनाको जन-जनतक पहुँचानेके लिये वैराग्य और इन्द्रिय-निग्रहकी अत्यन्त आवश्यकता है। उसकी अन्तर्दृष्टिने बताया कि मनुष्य आत्मदर्शनका ध्येय लेकर ही पृथ्वीपर अवतरित हुआ है। विशाल अन्तरिक्ष, गगनस्पर्शी पर्वत, सुदूर विस्तृत सागर, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी परमात्माकी दैवी शक्तिकी ओर इङ्गित करते हैं। वासनापूर्ण बन्धन तो सामाजिक विकासका प्रारम्भमात्र है। हम अपने बहुमूल्य जीवनका मुख्य भाग तो वासनाके मोहक जालमें फँसे रहकर ही व्यतीत कर देते हैं। जो वासनाके मादक चंगुलमें फँसे हुए हैं, वे पशु या राक्षसकी कोटिके ही हैं—यह सोचकर वे अपनी बालिका पत्नीसे बोले—

'शारदा! हम दोनोंके माता-पिताओंसे भारी गलती हो गयी है।'

'गलती! कौन-सी गलती?' बालिकाने पूछा।

'हमारे विवाहमें जल्दबाजी हो गयी।' रामकृष्णने चिन्ताके स्वरमें उत्तर दिया।

'फिर अब क्या करें?' शारदा आग्रह करने लगी। 'आप मुझसे आयु, विद्या, बुद्धि, विवेक—सबमें बढ़े-चढ़े हैं। हर प्रकार समझदार हैं। जो गलती हो गयी; उसको ठीक कैसे किया जाय?'

रामकृष्ण गम्भीर विचारोंमें निमग्न हो गये! भोली बालिका नहीं समझ पा रही थी, गलतीका सुधार क्योंकर होगा? उसके पति क्या चाहते हैं? इतनेमें रामकृष्ण बोल उठे—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १८)

"शारदा, मेरा मतलब है कि आत्मवादी पुरुषका लक्षण लोकहितार्थ कर्म है, उसे हम अपनायें; क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसीसे स्वार्थका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। हम सभी परमात्मारूपी विश्वचेतनाके अङ्ग हैं। फिर किसीके प्रति परायेपनका भेद-भाव क्यों करें। अपने ही स्वार्थ और सुखको प्रधानता देनेमें जो लोग क्षणिक आनन्दका अनुभव कर इसमें जीवन खपा देते हैं, उनसे यह आशा नहीं रखी जा सकती कि वे आत्मोद्धार कर लेंगे। इसके विपरीत जिसे अपना जीवन सार्थक बनाना है, जिसने अपना जीवन-लक्ष्य निर्धारित कर लिया है, उसके लिये यही उचित है कि वह खुले मस्तिष्कसे सभीमें अपने आपको रमा हुआ देखे।"

'आप ठीक ही कहते हैं, पतिदेव! बात कुछ और स्पष्ट कीजिये!'

रामकृष्ण आगे कहने लगे—'आत्मज्ञान और आत्मानुभूतिके मूल उद्देश्यको लेकर ही हम इस संसारमें आये हैं। आत्मा विशाल है। उसका सेवा-क्षेत्र विशाल है। वह सेवाकार्य केवल दाम्पत्य-जीवनतक ही सीमित नहीं रह सकता। सम्पूर्ण संसार, सारा समाज, चराचर लोक और समस्त पृथ्वीमण्डल इस आत्माके क्षेत्र हैं। अपनी चेतनाको भी विश्वचेतनामें जोड़ देनेसे आत्मज्ञानका प्रकाश स्वतः प्रस्फुटित होने लगता है।'

'फिर आगेके लिये हमारी क्या योजना ठीक रहेगी?' भक्तिविभोर स्वरमें शारदाने पूछा।

तब रामकृष्णने ये अन्तिम शब्द कहे—'शारदा! बुरा न मानना। भविष्यमें तुम्हें बलिदान करना होगा, कुछ प्रण करने होंगे और उन्हें निबाहना होगा। हम दोनों पति-पत्नीको ब्रह्मचर्य और आत्मसंयमका कठोर बन्धन अपने ऊपर रखकर लोकसेवा और आध्यात्मिक जागृतिका कार्य करना होगा। मानव जब वासना और इन्द्रियजन्य परतन्त्रतासे मुक्त होने लगता है, तब उसकी महानता विकसित होने लगती है। हमें आगे इसी सांस्कृतिक पुनरुत्थानके लिये जीना होगा।'

बालिका शारदामणि बोली—'आपका जैसा आदेश होगा, हिंदू पतिव्रता नारीके रूपमें मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगी।'

'तो, हम दोनों आज संकल्प करें कि अपने भावी जीवनमें कभी वासनाके वशीभूत न होंगे। गृहस्थीमें रहकर भी पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करेंगे।'

बड़ा कठोर प्रण था! फिर भी शारदामणि दृढ़तापूर्वक बोली—'मैं भी आपके साथ आज संकल्प लेती हूँ कि जीवनभर वासनासे दूर रहूँगी, शील-व्रतका पालन करूँगी।'

दोनोंने प्रण किया—'हम दोनों आजसे भविष्यमें सदा-सर्वदा वासनासे मुक्त रहेंगे, आत्माकी गौरवपूर्ण महत्ता प्राप्त करेंगे, अपनी प्रसुप्त दैवी महानताको जगायेंगे और नैतिकताके मार्गमें आजसे ही नहीं, अभीसे लग जायँगे, जिससे भावी जीवनका समाजके हितमें सदुपयोग हो सके।' इस प्रकार नव-दम्पतिकी वासनाको नया मोड़ मिला और वह शक्ति नये उपयोगी क्षेत्रोंमें उदात्त (Sublimate) होकर प्रवाहित होने लगी।

सारा भारत महात्मा रामकृष्ण परमहंस तथा उनकी धर्मपत्नी विदुषी शारदामणिके उपर्युक्त संकल्पको जानता है। वे आजन्म पति-पत्नीकी तरह रहे, किंतु उन्होंने आजन्म शील-व्रतका पालन किया। अपनी वासनाको मोड़कर परिष्कृत रूपोंमें—समाजसेवा, लोकोपकार, धर्म-प्रचार, सद्ज्ञानप्रचार तथा कल्याणकारी कार्योंमें लगाया। उन्होंने दिखा दिया कि गृहस्थ-जीवनकी एक वासनात्मक मर्यादा है; आदमी चाहे तो अपनी वासनाका निन्द्यमार्ग छोड़कर उसे ऊँचे उपयोगी और कलात्मक कार्योंमें लगा सकता है। मानव-जीवनका अर्थ वासनापूर्तिमात्र नहीं है। यदि वासनाका क्षणिक आनन्द ही हमारा लक्ष्य हो, तो मनुष्य और पशु-पक्षी तथा कीड़े-मकोड़ोंमें क्या अन्तर रहता! जिस प्रकार वे जानवर जो कुछ मिलता है, खाते-पीते, बच्चोंको जन्म देते, पालते और मर जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी मर जाया करते; लेकिन आदमी साधारण जानवरोंसे बहुत ऊँचा और संयमी विवेकशील जानवर है। वह मामूली जानवरोंकी तरह महज वासनाको पूर्ण करनेके लिये नहीं जन्मा है। कामोत्तेजना, नग्नता, यौन आकर्षण और वासनाके माया-जालसे भरा हुआ कीड़े-मकोड़ों-जैसा निम्नकोटिका जीवन विवेकशील मानवके लिये न तो योग्य है और न श्रेयस्कर!

गृहस्थीमें भी वासनाको नियन्त्रित कीजिये!

सामाजिक जीवनके सुव्यवस्थित विकासके लिये मनुष्य परिवार बसाता है, सुसंततिको जन्म देता है। उन्हें ज्ञानवान्, विवेकशील, चरित्रवान् और समाजके लिये उपयोगी बनाता है। दो-तीन बच्चोंसे अधिकको अच्छे नागरिक बनानेके लिये उसमें क्षमता और साधन नहीं

रहते। खेदके साथ स्वीकार करना पड़ता है कि ऐसे सुशिक्षित और सुनियन्त्रित परिवार आज बहुत कम हैं। लोग दिन-रात वासनाकी उत्तेजना और काम-सेवनमें ही फँसे रहते हैं। बच्चोंकी संख्या बढ़ाकर आबादी बढ़ा रहे हैं तथा भूख, बेकारी और बेरोजगारीके लिये जिम्मेदार हैं। बच्चोंकी बड़ी दुर्दशा हो रही है। न उनके लिये पौष्टिक भोजन है, न शिक्षा, न मकान, न आत्मिक विकासकी सुविधा। अनियन्त्रित वासना ही इसका कारण है। काम-वासनाकी गंदगीमें फँसे अनेक अविवेकी और मदहोश गृहस्थ अपने जीवनको नरक बना रहे हैं। इस काम-वासनाके ऊपर संयमका नियन्त्रण लगानेकी बड़ी आवश्यकता है। विवाहित जोड़े बुरी तरह वीर्यनाश करते हैं, शूकर और कुत्तोंकी तरह भोगविलासमें रत रहते हैं, संतानके साथ आनेवाली भारी जिम्मेदारियोंको नहीं समझते।

कामान्ध पुरुष तथा स्त्रीका आरोग्य, सौन्दर्य और यौवन गायब हो जाते हैं। अधिक वीर्यनाश करनेवाला युवक आँख-से-आँख मिलाकर नहीं देख पाता। कामान्ध मनुष्यके कपोलोंपरकी गुलाबी आभा नष्ट होकर काले दाग पड़ने लगते हैं, नेत्र एवं गाल अंदर धँस जाते हैं, बाल जल्दी ही पकने और झड़ने लगते हैं। वह वृद्धकी तरह जर्जर, निर्बल और ढीला हो जाता है, परिश्रम करने एवं दौड़नेसे हाँफने लगता है, जवानीमें ही मुर्देकी तरह उत्साहहीन हो जाता है। सीनेमें धड़कन होती है, अपच और कब्जियत, अनिद्रा, मूत्ररोग, स्वप्नदोष, कमरका दर्द और मुँहासे तथा अधिक वीर्यपात—कामुकताके निन्दनीय दुष्परिणाम हैं।

अनियन्त्रित काम-सेवनसे पुरुषका ही नहीं, बेचारी नारीका भी समयसे पूर्व स्वास्थ्य, यौवन और आरोग्य चौपट हो जाते हैं। शीघ्र ही सुन्दरता विलुप्त हो जाती है, शरीर और सुडौलता ढल जाती है। जल्दी-जल्दी बच्चोंको जन्म देनेसे युवती बचपनमें ही वृद्धा-सी लगने लगती है। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। वह बार-बार बीमार पड़ती है, प्रसूति-रोगसे ग्रस्त रहती है। बाल-बच्चोंके अधिक हो जानेसे सदा घरके काम-काजमें व्यस्त रहती है, जिससे कोई बड़ा काम नहीं कर पाती। प्रेम, स्नेह और रसके स्थानपर दिन-रात परिवारमें कलह-क्लेश, लड़ाई-झगड़ा, कुढ़न और आवेश छाया रहता है। यह सब कामुकतावृद्धि और लम्पटताके भयंकर दुष्परिणाम हैं। ये उन कामुक लोगोंको भुगतने पड़ते हैं, जो गृहस्थ-जीवनका पुनीत प्रयोजन भूलकर उसे काम-क्रीड़ाका प्राङ्गण मान बैठते हैं।

वासनाका उदात्तीकरण सम्भव है

अपनी काम-शक्तिके रूप बदलिये। इस शक्तिको निन्द्य रूपोंसे बचाकर अपनी रुचिको ऊँचे स्वास्थ्यकर, कलात्मक, उत्पादक रास्ते दीजिये अर्थात् अपनी चित्त-वृत्तिको कामुकतासे हटाकर कल्याणकारी मार्गोंमें लगाइये। काम-वासनाके तीव्र प्रवाहको क्षुद्र सांसारिक भोग-विलासके गंदे मार्गोंसे हटाकर नवीन उत्पादक पवित्र क्षेत्रोंमें बहाया जा सकता है। कामशक्तिके सदुपयोगसे व्यक्तिगत जीवन तथा समाज और विश्वके किसी भी क्षेत्रमें अद्भुत सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं।

आप कामुकतामें दिलचस्पी छोड़ किसी भी नये उपयोगी और उच्च विषयमें रुचि जाग्रत् कीजिये। जैसे-जैसे आप नये क्षेत्रमें रुचि लेंगे, वैसे-वैसे आपकी वासना उसी मार्गमें बहने लगेगी। निरन्तर कार्यमें लगे रहनेसे आप उस क्षेत्रमें चमक उठेंगे। कविता, साहित्य, विज्ञान, चित्रकारी, संगीत, नृत्य, अभिनय, वास्तुकला आदि जिस ओर भी आपकी दिलचस्पी हो, (कामवासना भूलकर) पूरी शक्ति और तन्मयतासे मनको उसमें एकाग्र कर दीजिये। अपनी सारी शक्ति इस नये प्रिय कार्यको अर्पित कर दीजिये। जितनी सचाई और ईमानदारीसे आप इन कलाओंकी साधनामें तन्मय होंगे, उनमें कुशलता और दक्षता प्राप्त करेंगे, उतनी तेजीसे आपके मनके कुविचार और वासनाएँ हटती जायँगी।

काम एक शक्ति है। उसका मार्ग उत्पादक हो सकता है। गहरी रुचि जाग्रत् करनेकी बात मुख्य है। जैसे-जैसे उच्च सांस्कृतिक विषयों—धर्म, दर्शन, अध्यात्म आदिके प्रति आपका चाव और उत्साह बढ़ेगा, वैसे-वैसे आपकी वासना बदलकर इन्हीं सांस्कृतिक विषयोंके प्रति रुचिका रूप ग्रहण कर लेगी। आपकी वासनाकी शक्तिको बाहर निकलनेका एक नया उपयोगी और कल्याणकारी क्षेत्र प्राप्त हो जायगा। आपकी कामशक्ति अच्छे विषयोंमें परिवर्तित होकर आश्चर्यजनक करिश्मे कर दिखायेगी।

काम-चर्चाकी बात छोड़कर आप समाज-सुधार, राजनीति और धर्मके क्षेत्रोंमें तन्मय हो सकते हैं, पशुत्वसे

देवत्वकी ओर अग्रसर हो सकते हैं । जितनी तन्मयतासे आप परोपकारके पवित्र कार्योंमें लगेंगे, उतने ही अंशोंमें गंदगीसे बचेंगे ।

गोस्वामी तुलसीदासजी, भक्त सूरदासजी, मीराँबाई आदिने अपनी कामशक्तिका प्रवाह कविता, संगीत और भक्तिके रूपोंमें बदल दिया था । अनेक महान् कहलानेवाले व्यक्ति अपने जीवनके प्रारम्भिक दिनोंमें उद्दीप्त वासनावाले रहे थे, पर बादमें अपनी गलती समझकर उन्होंने वासना-की शक्तिको नये उपयोगी रूपोंमें ढालकर उनसे समाज और देशको लाभ पहुँचाया, संसारको अपनी प्रतिभासे चकित-विस्मित किया । वह मार्ग किसीको साहित्य-सेवा, समाज-सेवा, परोपकारके कार्यों, कलाकी साधनामें तो दूसरों-को वाणिज्य, शिल्पकारी या विज्ञानकी सेवामें प्राप्त हुआ । आप वासनाको निकालनेके लिये अपनी रुचि, प्रतिभा, हैसियत एवं परिस्थितिके अनुसार नये-नये मार्ग ढूँढ़ें ।

संसारमें साहित्य, कला, काव्य, विज्ञान आदिमें तभी सफलता प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपनी वासनाको उन्हींके साधनमें नियुक्त कर देता है, तन-मन, प्राण और आत्माको उसमें उँड़ेल देता है, क्षुद्र सांसारिक वासनाको भुलाकर उच्चतम सांस्कृतिक रूपोंमें अपनी कामशक्तिका प्रवाह करता है । अपनी वासनाको गंदे स्रोतोंसे रोककर उत्पादक पवित्र मार्गोंमें विनियोजित करते रहिये ।

अपने परिवारके सदस्योंकी सेवा, उन्हें अधिकाधिक योग्य, सच्चरित्र, विद्वान्, प्रतिभा-सम्पन्न बनाना, पिछड़े हुओंकी सेवा करना, संगीत और साहित्यकी रचना करना, परोपकारके कार्यों—जैसे अनाथालयों और चिकित्सालयोंको चलाना आदि असंख्य लोक-कल्याणके कार्य कामवासनाके उदात्तीकरणके तरीके हैं ।

एक मनोवैज्ञानिकके ये शब्द गाँठमें बाँध रखने-योग्य हैं:—

"अपने सुखोंका ध्यान 'कामुकता' है, पर दूसरोंके सुखका ध्यान 'प्रेम' है । कामुकतासे हम घोर स्वार्थी और संकीर्ण बनते हैं और दूसरोंको अपने कब्जेमें लाना चाहते हैं, पर प्रेमसे हम परोपकारी बनते हैं और अपनेको दूसरोंके लिये खो देना चाहते हैं । जो व्यक्ति जितना ही अधिक समाज-सेवा, साहित्य-सेवा, धर्म एवं परमार्थवृत्तिमें लगता है, वह उतना ही कम कामुकताकी अनुभूति करता है । काम-रोगसे बचनेका उपाय दूसरे उपयोगी कामोंमें अतिव्यस्त होना है । आदमी शुभ कार्योंमें इतना तन्मय हो जाय कि खुराफात सोचनेका अवसर ही उसे न मिले ।" यह प्रक्रिया वासनाका उदात्तीकरण है ।

'स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ।'

(द्वितो० २ । १३९)

'उत्तम पुरुष वही है, जिसे इन्द्रियोंके विषय चलायमान न कर सकें ।' उत्तम व्यक्ति वही होता है, जो कामुकतासे चलायमान नहीं होता, संयमी और जितेन्द्रिय रहता हुआ अपने कर्तव्यमें लगा रहता है ।

चित्तको सन्मार्गपर लगाइये

दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं । मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो' नं ततो करे ॥

जितनी हानि द्वेषी द्वेषीकी और वैरी वैरीकी करता है, असत्-मार्गपर लगा हुआ चित्त उससे अधिक बुराई करता है ।

न तं माता-पिता कयिरा अञ्ञे चापि च ञातका । सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो' नं ततो करे ॥

जितनी भलाई न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बन्धु, उससे अधिक भलाई सन्मार्गपर लगा चित्त करता है ।

फन्दनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं । उजुं करोति मेधावी उसुकारो' व तेजनं ॥

चञ्चल, चपल, दुर्-रक्ष्य, दुर्निवार्य चित्तको मेधावी पुरुष उसी प्रकार सीधा करता है, जिस प्रकार वाण बनानेवाला वाणको ।

—भगवान् बुद्धदेव

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

'कल्याण'के सभी पाठक-पाठिकाएँ इस बातसे परिचित हैं कि प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमासे लेकर चैत्र पूर्णिमातक अर्थात् पाँच महीनेकी अवधिमें बीस करोड़ षोडश-नाम महामन्त्र—'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।' के जपकी प्रार्थना की जाती है और हजारों-हजारों व्यक्ति उस प्रार्थनाके अनुसार नाम-जप करते हैं और उसकी सूचना हमें भेजते हैं। गत वर्ष अर्थात् कार्तिक पूर्णिमा सं० २०२८ से चैत्र पूर्णिमा सं० २०२९ तक जप-संख्या बीस करोड़ मन्त्र-जपके स्थानपर लगभग ६७ करोड़ हुई थी। इससे 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंकी भगवन्नाम-जपके प्रति विशेष प्रीतिका परिचय प्राप्त होता है। 'कल्याण'के अक्टूबर अङ्कमें इस वर्ष, अर्थात् कार्तिक शुक्ल १५, तदनुसार २० नवम्बर, १९७२ से चैत्र शुक्ल १५ संवत् २०३०, तदनुसार १५ अप्रैल १९७३ तककी अवधिमें षोडश-नाम महामन्त्रके २० करोड़ जपकी पुनः प्रार्थना की गयी है। हमारा विश्वास है कि पाठक-पाठिकाएँ हमारी इस विनम्र प्रार्थनापर ध्यान देकर सदाकी भाँति बड़े ही प्रेम एवं उत्साहके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करनेमें स्वयं लग गये हैं तथा प्रेरणा देकर अपने स्वजनों, बान्धवों एवं पड़ोसियों आदिको भी लगा रहे हैं। प्रतिदिन अनेकों पत्र इस प्रकारकी सूचनाके प्राप्त हो रहे हैं। हम उन सभी बन्धुओंके हृदयसे कृतज्ञ हैं। सचमुच वे बड़े भाग्यशाली हैं, जो भगवन्नाम-जप करते हैं। नाम भगवान्का स्वरूप है। नामका आश्रय भगवान्का ही आश्रय है। अतः जो भगवान्के नामका आश्रय ग्रहण करते हैं, उनपर भगवान्की विशेष कृपाकी वर्षा होती ही है।

गत वर्ष (कार्तिक पूर्णिमा सं० २०२८ से चैत्र पूर्णिमा सं० २०२९ तक) हुए भगवन्नाम-जपके सम्बन्धमें कुछ विशेष बातें ध्यानमें आयीं, जो बड़ी ही प्रेरणाप्रद हैं—

(क) भारतका शायद ही कोई प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। विदेशोंमें भी जप हुआ है।

(ख) बालक-युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने जपमें भाग लिया है।

(ग) षोडश-मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी लोगोंने जप किया है।

(घ) बहुत-से लोगोंने जप करनेकी सूचना दी है, संख्या नहीं लिखी।

(च) कई लोगोंने अब इस क्रमको जीवनभर निभानेका निश्चय किया है।

(छ) अधिकांश जप व्यक्तिगतरूपमें हुआ है, कुछ सामूहिक रूपमें।

इसी प्रकार गत वर्ष १००१ स्थानोंपर नाम-जप होनेकी सूचना हमारे यहाँ नोट हुई है। गाँवोंके नाम अङ्कित करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है, फिर भी रोमन लिपिमें नाम लिखे रहनेसे उन्हें देवनागरी लिपिमें लिखनेपर उच्चारणमें भेद हो सकता है। बहुत-से ऐसे पत्र थे, जिनमें नाम ठीकसे पढ़नेमें नहीं आये। पूरी चेष्टा रखी गयी है कि नाम ठीकसे पढ़े जायँ; पर इसमें भूल सम्भव है। कुछ पत्र डाक-विभागकी गड़बड़ीसे, कुछ हमारे कार्यालयकी लापरवाहीसे चढ़े बिना भी रह सकते हैं। जिन स्थानोंके सम्बन्धमें ऐसी भूलें हुई हों, वहाँके जप-कर्ता महानुभावोंसे हम क्षमा-याचना करते हैं। वे कृपया हमारी विवशताको ध्यानमें रखते हुए अपनी उदारतावश इसके लिये विचार नहीं करेंगे।

स्थानोंकी सूची

अंचलवाड़ी, अकबापुर, अकासी, अकोला, अख्तियारपुर, अचलजामू, अजगरा, अजनी, अजबपुरा, अजमेर, अटवा, अठेहा, अणुवासा, अदलागुड़ी, अदौनी, अधलगुरी, अनभुला, अनूपगढ़, अन्तपैठ, अभयपुर, अमनौर, अमरावती, अमसेरा, अमिलिया, अम्पोला, अम्बाला, अम्बालमेडू, अम्बाह, अम्बिकापुर, अयोध्यागंज बाजार, अरई, अरड़का, अरडाद, अरसारा, अरारिया, अरारी, अर्जुनपुर, अलवर, अलीगढ़, अलीराजपुर, अल्मोड़ा, अवई, अवसेरीखेड़ा, असनावर, असवार, असवारी, अस्तरंग, अहमदाबाद, अहर, अहरोला, अहारन, आँती, आगर, आगरा, आगासौद, आजमगढ़, आठगढ़, आनन्दनगर, आमू, आरा, आरिटार, आरंग, आलमपुर, आत्रगिलासायर, आष्टा, इचाक, इचातु, इच्छापुर, इच्छापुर नवाबगंज, इच्छेबस्ती, इटकी, इटावा, इटौंजा, इन्दरगढ़, इन्दरा, इन्दौर, इरागुड़ा, इलाहाबाद, उखुण्डा, उजानगंगोली, उज्जैन, उडीपी, उत्तरलौला, उदयपुर, उदलियास, उना, उन्नाव, उबौरा,

उमरी, उमेदाबाद, उमरानाला, उरई, उलकानामण्डी, उस्का, ऊँइना, ऊगरपुर, ऊँझा, ऋषिकेश, एकडंगा, एकमा, औरया, औरंगाबाद, कंचिकचर्ल, कचलाना, कछार, कजियाना, कटईआ, कटका, कटनी, कटूइवड़ा, कडैल, कदौरा, कनासिया, कन्दना, कन्नौद, कन्हौली गजपति, कपसार, कपासन, कपूरथला, कफलौड़ी, कमर्जा, कमासीन, करगहर, करगाली, करगीरोड, करसौत, कराड, करियागोपालपुर, करीमपुर, करौता, कर्नलगंज, कलकत्ता, कलियाबाजार, कलैयाबाजार, कल्हाबाद, कसबा, कसरौर, काँकरोली, काँकिर, काँधला, काँठ, कागरी, कागूपाड़ा, काटिया, काटेमाननली, काठीकुण्ड, कदरगंजपडेरा, कानपुर, कानियाँ, कान्तावंजी, कारंजा, कारकूनखेड़ली, कालपी, कालपहाड़, कालाहण्डी, कालिम्पोंग, कासोला, किछा, किराना, किराप, किल्होवा, किशनगढ़, किशुनगंज, किशोरपुर, किसवार, कुचामनसिटी, कुटासा, कुट्टम्बा, कुनकुरी, कुसराज, कुरथरी, कुरुक्षेत्र, कुसुम्ही, कूंडिया, कूचविहार, कूनौलीबाजार, कूही, कूही-कलाँ, कृपालपुर, कृष्णगढ़, केथुनींपोल, केलवेद, केलूखेड़ा-साँथा, केवाटगामा, केसठ, केसवाँ, कैथा, कोकुलमल्ली, कोटड़ी, कोटड़ी इस्तमुरार, कोटफतूही, कोटरी, कोटा, कोटाग्राम, कोटावारा, कोण्डापुरम्, कोतर, कोयम्बतूर, कोरगवाँ, कोरनात, कोलाघी, कोलेगल, कौड़ियागंज, कौलेडिरी, खगड़िया, खड़ेर, खड्डी, खण्डवा, खण्डेलवालनगर, खरकड़ीकलाँ, खरगोन, खरसियाँ, खरियार, खरिहानी, खरोसा, खलरी, खलीलाबाद, खापा, खामडीह, खारीकलाँ, खासापट्टी, खिरिया, खीरी, खुरथुना, खेड़ली, खैजड़ा, खैरवा, खैरा, खैरी, खैरीडीह, गंगामाटी, गंगोह, गडरारोड, गड़, गढ़पुरा, गढ़र, गढ़ी, गढ़ीपुर, गया, गरणिया, गरीफा, गलना, गवाँ, गवाखेड़ा, गाजियाबाद, गाजीपुर, गाँवड़ी, गिरिजापुरी, गिरिजास्थान, गिर्वा, गिलोला, गुड़गाँव, गुड़ारियाजोगा, गुना, गुरसराय, गुलबर्गा, गूड़ेवल्लूर, गेगापुर, गेवरा, गैसाबाद, गोंडा, गोचीतरोंदा, गोटेगाँव, गोड़ाबाँध, गोघनी, गोनौन, गोरखपुर, गोरमी, गोरा, गोरुडुवा, गोलाघाट, गोलाधार, गोली, गोवर्धन, ग्वालियर, घाटशिला, घुघली, घुड़हर, घोड़ाडोंगरी, घोरीकित्ता, चंगड़वान्धा, चंडेसर, चंदवासा, चक, चकराता, चकवड़िया, चकेरी, चड़गांव, चतरा, चनौहता, चन्दनपुर, चन्दनभटी, चन्दवासा, चन्दा, चन्देरी, चन्देलाकलाँ, चन्दौसी, चन्द्रापुर, चन्द्रायणधरहरा, चमथा, चरखारी, चाकूर, चारबाद, चावड़िया, चिंचौली, चिकनगाँव, चिरचारीकलाँ, चिरैयाकोट, चिलरगी, चिलरा, चिल्वरिया, चौबेपुर, चौहटन, चौहटा, छछून्द, छतरपुर, छपरा, छम्बीगढ़, छापड़ा, छिन्दवाड़ा, छीपाबड़ोद, छेरकापुर, छोटीखाटू, जंगीपुर, जगतपुर, जगदलपुर, जगदीशपुर, जनकपुर, जबलपुर, जमशेदपुर, जमुनिया, जमोलियागणेश, जम्मू, जम्मूतवी, जयनगर, जयपुर, जयरामपुर, जरीडीह, जरुआडीह, जरोड़, जसगाँव, जलालवसन्त, जलालाबाद, जलवार, ज्वाली, जसपुरा, जसेला, जहाँगीराबाद, जहादपुर, जाखड़ी, जामटी, जामागुडीहार, जारगीम, जालन्धर, जालापुर, जाल्सू, जावद, जास्का, जिन्दौरा, जीतपुर, जींद, जीराबाद, जीलूण्डा, जुरहरा, जूना जालना, जैकोट, जैतूखाड़, जोधपुर, जोधपुरा, जोरावरडीह, जोल्हूपुर, जोशीमठ, जौड़ियाँ, जौनपुर, जौराना, झरिया, झरियापाली, झाँसी, झारखण्डधाम, झारसूगुड़ा, झालावाड़, झुमरीतिलैया, झुमियाँवाली, झुलाघाट, टकेटार, टानडा, टिमरनी, टूटोली, टिकहाँ, डाडी, डालमियानगर, डाल्टनगंज, डिबाई, डीडवाना, डीहा, डुमरा, डुमरियाखुर्द, डुमरी, डेहरी, डोइला, डोल्वी, डौंबिवली, ढांगल, ढाढाकलाँ, ढेढर, तपामण्डी, तरीफल, तरेंगा, तवेरा, तसुपा, ताजपुर, ताली, तिदवारी, तिरको, तिरोड़ा, तिलकपुर, तिवरखेड़, तीरमऊ, तुमसर, तेजपुर, तेजम, तेरौंद, तेल्हारा, तेवरा, तृप्पुणित्तूर, त्रिवेणीथुरा, थाणा, दड़िमा कचहरी, दबायाना, दरभंगा, दरियाबाद, दरियाडीह, दरीबा, दाउदनगर, दाउदपुर, दातारपुर, दानापुर, दारी, दिगांव, दिल्ली, दुधई, दुर्ग, देवगढ़, देवठी, देवत, देवपेठ, देवबंद, देववहार, देवल, देवास, देहरादून, दोन, दोस्तपुर, द्वारहाट, धंध, धनकुड़िया, धनगाँवा, धनबाद, धनोरा, धनौला, धरणगाँव, धरमपुर, धर्मशाला, धवली, धामपुर, धामणगाँव, धारवाड़, धीरखाँ, धुंधुका, धुरगड़गी, धूसा, धोरीकित्ता, धौरपुर, नकौड़ा, नघोड़ा, नदियामी, नमाना, नयागाँव, नयानगर, नरगोड़ा, नरमण्ड, नरवर, नरवारा, नरौरा, नर्वल, नवसारी, नवाँशहर, नवापारा, नागपुर, नागौर, नादगाँवपेठ, नाभा, नारदीगंज, नारायणपुर, नारायणराठ, नासिक, निगोही, निरथर, निपनियाँ, निभौन, निरसाचट्टी, निर्मली, निवाली, नीमका थाना, नैकाछपरा, नैड़ी, नैमिषारण्य, नौजरपुर, नौली, पंचगछिया, पंचाकोट, पंडीपुरा, पकड़ीवसन्तपुर, पकरहट, पचखरा, पचमाधव, पचलखी, पचैण्डाकलाँ, पचोरा, पछाड़, पटना, पटनागढ़, पटैलपाली, पटौंदी, पट्टीकल्याण, पताही, पत्थरघट्टा, पदुमतरा, परतेवा, परसदा, परसावाँ, परसिया, परसीपुर पतौना, परेव, पहाड़ी, पाँचकोटराज, पाटन, पाड़ीव, पाण्डुनगर, पाण्डेगांव, पानीपत, पाबूसर, पायल, पारौनी, पालगंज, पालमपुर, पाली, पावटी, पिथनी, पिथौरागढ़, पिपरा वगाही, पिपराही,

पिपरौली, पिपलगाँवदेवी, पिपलानी, पिहानी, पीनना, पीपरी गहरवार, पीपलरावा पीपला, पीपाड़रोड, पुकारी, पुनासा, पुरहदा, पुरहिया, पुवायाँ, पुसौली, पूँछ, पूना, पूरेगोकुलसिंह, पूलीयुर, पेण्डरा, पेसम, पैकपार, पैंची, पैरारशाहपुर, पोड़ी, पोखरैंडा, पोरबन्दर, पौलहा, प्रतापगंज, प्रतापगढ़, फगवाड़ा, फतेहपुर, फफाडीह, फरसवामी, फरहदा, फरियादपुर, फरीदनगर, फरीदाबाद, फलियावासद, फागी, फारबीसगंज, फिंगेश्वर, फिरोजपुर झिरका, फिल्लौर, फेरूसा, फैजपुर, फैजाबाद, बगड़िया, बगासपुर, बटवाड़ी, बड़कलाँ, बड़गाँव, बड़वानी, बड़हरी, बड़ाहापजान, बड़ीपोलाय, बढ़याचौक, बतरा, बनकट्टी, बमकोअी, बमराड़ी, बम्बई, बरगढ़, बरतेज, बरीका नगला, बरदाला, बरारीपुरा, बरेड़ी, बरेली, बरूधन, बलिया, बहराइच, बाँवल, बाँसगाँव, बाँसबरेली, बारापाल, बारू, बालापुर, बालेदर, बासन, बिजवार, बिरमित्रापुर, बिराटनगर, बिसरा, बिसेनगाँव, बिस्वाँब्रिज, बीकानेर, बीकौरी, बीड़मण्डी, बुढ़नपुरा, बुरला, बेगमगंज, बेतूल, बेलगाम, बेलहुकरी, बेलोकलाँ, बेहटा, बैदवली, बौड़ा, ब्रह्मावली, भच्छी, भटवाड़ी, भटिण्डा, भट्टपुरा, भण्डारा, भद्रपुरा, भरथौली, भवदेवपुर, भाऊगढ़, भागौट, भानपुर, भावनगर, भीमडावास, भुचौमण्डी, भुत्ता, भुवनेश्वर, भुसावल, भूपतपुर, भूरेवाहा, भैरोपुर, भोकरदन, भोजपुर, भोपाल, मंगलबन्दी, मऊ, मऊगंज, मकोड़ी, मच्छरगावाँबाजार, मझरिया, मणिका, मण्डल, मथुरा, मद्रास, मधवापुर, मनकडीहा, मनफरा, मनसींघा, मनीमाजरा, मनेन्द्रगढ़, मनोहरपुर, मन्नौढ़, मरखूपुर, मरदह, मरुई, मलणगाँव, मवई, मवड़ा, मशोबरा, मसौढ़ी, महनार, महमूदपुर, महसों, महाराजपुर, महुतरीवीर्ता, महोबा, महोली, माँट, माँडल, माउर, माटीगारा, मातौल, मानपुरनगरिया, मानवत, माना, मायना, मालौनी, मिदनापुर, मियाँगाम, मियाँगंज, मियाँपुर, मिरौलिया, मीरगंज, मुंगेली, मुकन पाबूसर, मुगलसराय, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुड़केला, मुदखेड़कर, मुधोल, मुरादपुर, मुरादाबाद, मुरैना, मुरौली, मुल्लापुर, मुहम्मदपुर खाला, मेंहदावल, मेघौल, मेरठ, मेहसी, मोदीनगर, मोवाड़, म्योरपुर, म्हसावद, यवतमाल, यादवगढ़, येवले, रजऊ परसपुर, रजवास, रजौधा, रतनखेड़ी, रमना, रमनीकपुर, रमुना, रसूलाबाद, रहावली उवारी, रांगामाटी, रांची, रांटी, राउरकेला, राजकोट, राजाका ताजपुर, राजविराज, राधाउर, रानीखेत, रानीबाग, रानीपुर, रामगढ़, रामतीर्थ, रामपिपरिया, रामपुरफुल, रामपुर भटौली, रामपुरा, रामेश्वरम्, रायचूर, रायपुर, रार, रारी, रावतगीव, रासरसिकपुर, राहे, रिठद, रीगस, रुद्रनगर, रेधा, रेवदर, रोहतक, रोहिणी, रोहिनियाँ, लक्ष्मणगढ़, लक्ष्मीपुर, लत्ता, ललितपुर, ललेगाँव, लश्कर, लस्करी, लहुआकलाँ, लाखनमाजरा, लाटवसेपुर, लाठगाँव, लाड़वा, लावरिया, लावर, लालगढ़, लालपुर, लासलगाँव, लीलापट्टी वनकटिया, लुधियाना, लूम्ब, लोकनगर, लोणावला, लोधनहार, लोहानीपुर, लोहार्दा, लौकहाँ, लौरिया, वंटभूरी, वगही, वनगँवा, वम्हनी, वरदाला, वरवेज, वरियारपुर, वरौंधा, वसन्तपुर, वहवोल्यिा, वाँत्ररुड, वारा, वाराणसी, विजयपुर, विलखी, विष्णुगढ़, विष्णुपुरखुर्त्त, विसावाँ, वीणा अन्दौली, वृन्दावन, वैजापुर, वैसाडीह, वोकला, वोड़ा, शकूरबस्ती, शकूराबाद, शमशेरनगर, शरफुद्दीनपुर, शल्ल, शामगढ़, शाहगंज, शिउरा, शिकारपुर, शिमला, शिरउशाहापुर, शिरपुर, शिवगंज, शिवपुरी, शिवली, शिवाडीह, शिलांग, शुजालपुर, शेरघाटी, शेल्लबाजार, शैलग्राम, श्रीगंगानगर, श्रीनिवासधाम, श्रीपुर, श्रीमाधोपुर, श्रीरामपुर, संगमनेर, संगरूर, संगरेड्डी, संपलपण्ड, सखिनेटिपल्ली, सजनपुरा, सठियाँव, सतारी, सनावड़ा, सबलपुर, सबौर, समराया, समस्तीपुर, सरकण्डा, सरखों, सरगाँव, सरदारनगर, सरधापाठ, सरयाधाम, सरायस्वामी, सरिया, सरैयाहाट, सलकिया, सवैयामीरा, ससुआ, ससून्द्रा, सहजपुर, सहरसा, सहारनपुर, साँगली, साँची, साकोल, सागर, सात्धार, सातोजोगा, सादाबाद, साबरमती, सायर, सालाँगीर, सास्तूर, साहीवाड़ा, सिंधिताहो, सिंघाणा, सिकन्दराबाद, सिध्वापुर, सिमडेगा, सिमथरी, सिमरोल, सिरलेकर, सिलदहा, सिलयारी, सिलहटा, सिवनी, सिवनी मालवा, सिसवाबाजार, सिहदापुर, सिहोरा, सींथल, सीका, सीगौन, सीतापुर, सीतामऊ, सीतारामपुर, सीवड़ी, सीवनाला, सीसवाली, सुकेत, सुजानपुर, सुठालिया, सुभाषनगर, सुल्तानगंज, सुल्तानपुर, सूरजपुर, सूरत, सूलिया, सेजपुरिया, सेंधवा, सेमली, सेमरोल, सेरौ, सेवास, सैदापुर, सैसड़, सौंसरी, सोनखेड़, सोनगरा, सोनारी, सोनीपत, सोमना, सोरखाड़कलाँ, सोलडिंग, सोहागी, स्वामीपुरा, हंटरगंज, हजारीबाग, हटनी, हटा, हतनूर, हत्था, हनुमानगढ़, हफीजाबाद, हरकेसा, हरदोई, हरिद्वार, हलैना, हसनपुर, हाँफा, हाजीपुर, हातनूर, हावड़ा, हावी मौआइ, हिंगुतरगढ़, हिण्डोरिया, हिनोराली, हिलोधा, हिलौली, हिवरा कोरड़े, हिसार, हैदरगढ़, हैदराबाद, हुक्केरी, हुजूराबाद, हुबली, होनावर, होशंगाबाद, होशियारपुर, होसपेट ।

दान

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

दान मनुष्यमें आत्माके जागरणकी पहली सीढ़ी है। लेना और ग्रहण करना मानवका स्वभाव है। वह माता-पितासे लेता है, मित्रोंसे लेता है, समाजसे लेता है, देश और विश्वसे लेता है और अपने चतुर्दिक् फैले निसर्ग-विस्तारसे लेता है। विना लिये मनुष्य जी नहीं सकता। हम जिसमें साँस लेते हैं, वह हमारे चतुर्दिक् फैला वायुमण्डल, हम जिस धरतीपर चलते हैं, वह सर्वसहा पृथिवी, यह अमृत-सा जल, यह फल-फूल और अन्नका विस्तृत भंडार—सबसे हम लेते-ही-लेते हैं। यह लेना ही हमारा जीवन है। यह प्रक्रिया हमारे जन्मसे आरम्भ होती और देहावसानतक बराबर चलती रहती है।

जब लेना मनुष्यका स्वभाव है, तब देना या दान उसका संस्कार है। ज्यों-ज्यों उसमें प्रज्ञाका, विवेकका विकास होता है, त्यों-त्यों वह समझता है कि दिये विना वह अपूर्ण है। ज्यों-ज्यों वह विकसित होता है, लेनेके साथ ही देना भी उसका स्वभाव बनता जाता है। जो जितना ही बड़ा होता है, वह उतना ही देता है; जो जितना ही देता है, वह उतना ही बड़ा होता है। जैसे मानवका ग्रहण मृत्युके पूर्व समाप्त नहीं होता, वैसे ही उसका दान भी कभी समाप्त नहीं होना चाहिये।

दान भी दो प्रकारका होता है—१. अनिच्छुक या स्वभाव-विवश और २. विवेक-सम्मत एवं संकल्प-पूर्वक। हम पढ़ाईका शुल्क देते हैं, हम रेलका किराया देते हैं, हम विविध प्रकारके कर या अधिभार देते हैं। ये सब समाजसे मिलनेवाले लाभ या ग्रहणका बदला है। परंतु उसे देनेके लिये हम विवश हैं। जो कुछ हम समाजसे ग्रहण करते हैं, उसके बदले हमें उसे नियम-विवश कुछ देना पड़ता है। परंतु यह दान अनिच्छुक या विवश दान है। इसमें देनेकी भावना नहीं है। यह एक प्रकारका बदला है; सौदा है। हमें इलाहाबाद-से वाराणसी जाना है। इसके लिये हम रेल, बस या टैक्सीका सहारा लेते हैं। इस सहारेके बदले उन्हें उनका किराया तो देना ही है। एक प्रकारसे यह परस्पर ग्रहणका विनिमय है। एकके ग्रहणमें ही दूसरे-का दान है। किसीने हमारा एक काम कर दिया, हमने बदलेमें उसे कुछ दिया—यह भी दान ही है; परंतु यह विवश तथा निम्नस्तरका दान है—यहाँतक कि यह दान नहीं, एक प्रकारका व्यवसाय है।

वास्तविक दानमें, जिसे दिया जाता है, उससे लाभ उठाने अर्थात् प्रकारान्तरसे ग्रहण करनेका भाव नहीं होता। हमारे पास है और जो हमारे पास है, उसका दूसरेके लिये उपयोग है, उसे उसकी आवश्यकता है—बस, इतना ही विचार इसमें होता है। एक धनवान् सज्जनको मैं जानता हूँ। उन्हें ज्ञात हुआ कि अमुक व्यक्ति बीमार हैं, उनके पास इलाजके लिये पैसे नहीं हैं। काफी द्रव्य हो, तभी उनके प्राण बचाये जा सकते हैं। उस आदमीने कभी उनका कोई काम नहीं किया था, कभी उनको किसी तरहका लाभ नहीं पहुँचाया था, न कोई सेवा की थी। भविष्यमें भी उनसे कोई सेवा हो सकेगी, इसकी सम्भावना नहीं थी। दोनों किसी स्तरपर भी समान नहीं थे। किंतु ज्ञात होते ही उन्होंने रुग्ण व्यक्तिके लिये रुपयोंका प्रबन्ध कर दिया। बीच-बीचमें उनके विषयमें पूछते-जाँचते रहे—'वे अच्छे तो हो रहे हैं, कबतक अस्पतालसे छूटकर सामान्य-जीवनके योग्य होंगे ?' इस दानकी महत्ता यह भी थी कि देकर उनमें देनेका किंचित् भी अहंकार

नहीं हुआ; कृतज्ञता-प्रकाश करनेपर उन्हें संकोच होता था। उनके मनमें भाव यही था कि मेरे पास जो धन था, इस कार्यसे वह सफल हो गया; क्योंकि दूसरेकी प्राण-रक्षामें उसका सदुपयोग हुआ।

मेरे एक और परिचित सज्जन हैं। स्थिति सामान्य है। एक समयकी बात है कि वे बड़े कष्टमें थे। आयके सम्पूर्ण स्रोत बंद हो गये थे। रोटी भी मुश्किलसे चलती थी। स्वयं ही परीशान थे। उन्हें ज्ञात हुआ कि पड़ोसीकी हालत बहुत बिगड़ गयी है। जहाँ पाँच-पाँच हजार गाड़ियाँ चलती थीं, वहाँ हालत यह हो गयी कि कभी भोजन बनता है, कभी नहीं। पाँच हजार रुपये मिल जानेपर उनका काम फिरसे चलनेकी सम्भावना थी। कई दिनोंतक सोचते रहे; समझमें नहीं आता था कि कैसे करें, कैसे पड़ोसीका दुःख दूर हो। अन्तमें उन्होंने अपने रहनेका एकमात्र मकान गिरवी रखकर पाँच हजार रुपये लिये और बड़े विनीतभावसे ले जाकर पड़ोसीको दे दिये। उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे। यह भी एक दान है। अपनेको खतरेमें डालकर भी दूसरोंका दुःख दूर हो, इस भावनासे प्रेरित दान!

पिछले जून मासकी बात है। मैं बम्बईके चर्चगेटमें एक मित्रसे मिलने, तेजीके साथ, चला जा रहा था। चारों ओर बड़े-बड़े भवन और अट्टालिकाएँ, वातानुकूलित कार्यालय, वर्दी पहने चपरासी! एक सड़ककी मोड़से निकली गली। उसमें पटरीपर पड़ा एक लगभग चौदह-पंद्रह वर्ष उम्रका लड़का। वह चीखता है, पर ठीक तरहसे चीख भी नहीं पाता। मालूम हुआ कि छः दिनोंसे उसके पेटमें अन्नका एक दाना नहीं गया है। पेट पीठसे मिल गया है। उसकी विपन्नता इस वैभवशालिनी नगरीपर एक क्रूर उपहास-सी लगती है। मोटरें फर्रसे निकल जाती हैं। उनका ताँता लगा है। इस तरह कि सड़कको पार करना मुश्किल है। उस वातावरणके वैषम्यके कारण मैं खड़ा हो जाता हूँ। जेब टटोलता हूँ और चन्द पैसे उसके पास रख देता हूँ। वहाँसे आगे बढ़नेकी सोच ही रहा हूँ कि एक भिखारी वहाँ आता है। उसके कपड़े तार-तार हो रहे हैं। पाँवमें फटा जूता है—इतना फटा कि मानो अभी साथ छोड़ देगा। एक बीड़ी सुलगा रखी है। वह आता है, ठहरता है, कुछ देरतक लड़केको देखता रहता है, फिर खिलखिलाकर अर्धविक्षिप्तकी भाँति हँसता है और यह कहकर कि 'ले, तू ही ले, आज', दिनभरकी जोड़ी सारी कमाई उसके पास रख देता है। पर लड़का फिर भी बोल नहीं पाता, उठ नहीं पाता। उसकी असमर्थता अनुभवकर वह फिरसे पैसे उठा लेता है और सामने सड़कके उस पार फुटपाथकी एक दूकानसे चाय, समोसे और कुछ भजिये लाकर उसके पास रख देता है—'ले, खा!' हाथसे उठाकर उसे बैठा देता है। लड़का खाना शुरू करता है और वह हँसता हुआ चला जाता है।

मैं वहीं गड़ गया हूँ। शर्मसे गड़ गया हूँ। यह कैसा दान है! हमारी मानवताके अहंकारको चूर-चूर कर देनेवाला, हमारी शिक्षा और संस्कारोंको चुनौती देनेवाला। दिनभरका माँगा एक-एक पैसा, स्वयं भूखे रहकर दूसरे अधिक भूखेको दे देनेकी यह उदारता और उससे भी अधिक उस उदारताकी सहजता देखकर मैं दंग रह गया। छोटा आदमी, परंतु कितना महान्!

बचपनमें महाभारतकालकी एक कथा सुनी थी। वह मुझे कभी नहीं भूलती। महाराज युधिष्ठिरका बहुप्रशंसित अश्वमेध यज्ञ प्रायः समाप्त हो रहा था। उनके सत्य और क्षमताकी धाक दूर-दूर देशोंपर छा रही थी। उनका यश चतुर्दिक् व्याप्त हो रहा था। उसी समयकी बात है। कुछ ब्राह्मण और यज्ञ करानेवाले एक स्थानपर बैठे उनके उस अश्वमेध यज्ञकी प्रशंसा कर रहे

थे। उनका मत था कि ऐसा यज्ञ और ऐसा दान न पृथ्वीपर कभी हुआ, न होगा।

इसी समय वहाँ, कहींसे चलकर, एक नेवला आ गया। यह एक विचित्र नेवला था। उसकी आँखें नीली थीं और उसके शरीरके एक ओरका भाग सोनेका था। वहाँ पहुँचते ही उसने वज्र-तुल्य भयंकर गर्जना की, जिससे समस्त मृग-पक्षीगण भयभीत हो गये। इसके बाद वह मनुष्य-की भाषामें कहने लगा—'राजाओ! तुम्हारा यह यज्ञ कुरुक्षेत्र-वासी एक उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणके दिये हुए सेरभर सत्तूके तुल्य भी नहीं है।' इसपर सभी ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी आश्चर्यमें पड़ गये। ब्राह्मणगण उसे घेरकर खड़े हो गये तथा पूछने लगे—'तुम कौन हो और यहाँ कैसे पहुँच गये, जो इस यज्ञकी निन्दा कर रहे हो?'

नकुलने कहा—'ब्राह्मणो! मैंने जो कुछ कहा है, सच है; आपलोग धैर्यसे सुनें। कुछ दिन पहले कुरुक्षेत्रमें एक ब्राह्मण रहते थे। उनके परिवारमें स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके सहित चार व्यक्ति थे। वे अनाज काट लेनेके बाद खेतोंसे दाने चुनकर उञ्छवृत्तिसे सपरिवार अपने जीवनका निर्वाह करते थे। उनका प्रति तीन दिन बाद ही सपरिवार भोजनका नियम था। एक बार वहाँ बड़ा भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इसमें कई तीन दिन निकल जानेपर भी उन्हें अन्न प्राप्त न हुआ। अन्तमें किसी दिन उन्हें एक सेर जौ मिला, जिससे उन्होंने सत्तू तैयार किया। फिर उससे अग्निहोत्र कर एक-एक पाव बाँटकर खानेके लिये उद्यत हुए। इसी बीच वहाँ एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। तब विधिपूर्वक पाद्य-अर्घ्य आदिसे उसकी पूजा करके ब्राह्मणने उसे एक पाव सत्तू भोजनके लिये दिया। पर अतिथि उससे तृप्त न हुआ और क्रमशः वह सबके भागका सत्तू भोजन कर गया। वास्तवमें धर्म ही उस ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें उपस्थित थे। वे प्रवचनमें अत्यन्त कुशल थे, अतः प्रसन्न होकर उन्होंने ब्राह्मणसे कहा कि 'द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारे इस श्रेष्ठ दानसे मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। देखो, आकाशसे भूतलपर यह पुष्पोंकी वर्षा हो रही है और देवगण आपके दानसे विस्मित हो उसकी स्तुति कर रहे हैं। तुम्हारे समस्त पितृगण तर गये। अनेक युगोंतक आगे होनेवाली संतानें भी तुम्हारे इस पुण्यके प्रतापसे तर जायँगी। अब तुम सभी अपने धर्मके प्रभावसे सशरीर स्वर्गमें चलो। क्लेशमें भी जब मनुष्यमें दानविषयक रुचि जाग्रत् होती है, तब उसका धर्म बढ़ता है। विशेष समय, पात्र एवं श्रद्धाके संयोगसे तो उसका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। स्वर्गका द्वार अत्यन्त सूक्ष्म है, पर मोहाच्छन्न मनुष्य उसे देख नहीं पाता। महाराज रन्तिदेव शुद्ध हृदयसे केवल जलके दानसे ही स्वर्ग चले गये थे। पर अन्यायोपार्जित धनके दानका कोई अर्थ नहीं है। इसीलिये नृगको नरकमें जाना पड़ा। तुम्हारे दानकी तुलना अनेक यज्ञोंसे भी सम्भव नहीं, अतः तुम नीरज एक ब्रह्मलोकको जाओ। यह दिव्य विमान तुम्हारे सामने उपस्थित है। मेरी ओर देखो, मैं साक्षात् धर्म हूँ। तुम सभी सानन्द इस विमानपर चढ़ो।'

इस तरह उन सभीके सशरीर स्वर्ग जानेपर मैं उस बिलसे निकला और उन शक्तुकणोंके स्पर्श एवं घ्राणसे, जल-कीचड़के सम्पर्कसे और स्वर्गसे गिरे हुए दिव्य पुष्पोंके रौंदनेसे मेरा सिर एवं पार्श्व स्वर्णिम हो गया। तबसे मैं अनेक यज्ञोंमें घूमा, फिर यहाँ आया; पर मेरा शेष शरीर सोनेका न हुआ। अतः यह यज्ञ उस सेरभर सत्तूके दानके तुल्य नहीं है।

इस कथासे स्पष्ट हो जाता है कि दान और त्यागमें परिमाणका उतना महत्त्व नहीं है; जिस वृत्तिसे दान दिया गया है, उसीका विशेष महत्त्व है। यदि दानके पीछे यशकी लिप्सा है या अहंभाव है तो वह दान दान होकर भी उच्चकोटिका नहीं हो सकता। दानमें देनेका गर्व, यहाँतक कि भाव भी न हो तो वह महान् दान है। यह अनुभूति कि 'सब कुछ प्रभुका है, मेरा अपना कुछ नहीं है', दानको सात्त्विक बनाती है। 'सब कुछ उन्हींका है, उन्हींकी सत्प्रेरणासे यह कार्य हो रहा है, इसलिये उन्हींकी कृपासे यह पुण्य कार्य हुआ और मैं धन्य हुआ, मेरा धन-धान्य या पौरुष सफल हुआ'—यही भावना दानमें होनी चाहिये।

जो ईश्वरवादी या आत्मवादी नहीं हैं, उनके विचारसे भी हमारे पास जो कुछ है, सब समाजका

है। हमने जो पाया है, उसे आवश्यकता होते ही समाजको लौटानेमें तत्पर रहना इष्ट है। जहाँ देनेमें देनेका अहंकार नहीं है, अपितु आनन्द है, धनकी या. दी हुई वस्तुकी सार्थकता वहीं है। दान मानव-संस्कार-की एक कसौटी है; यह इङ्गित करता है कि हममें आत्मैक्यकी, विश्व एवं समाजसे अभिन्नताकी भावनाका विकास कहाँतक हुआ है।

सभी उत्तम संस्कारोंकी तरह दानका संस्कार भी आज समाप्तप्राय हो चला है। पहलेके धनिक और आजके धनिकमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पहलेका धनिक समाजसे अर्जन करता था तो अपने संचयको लुटाता और लौटाता भी था और सत्कार्योंमें उसका उपयोग करता था—शत-शत मन्दिर, धर्मशालाएँ, कुएँ, तालाब, नदियोंके घाट, मार्ग, विद्यालय, छात्रावास, अन्नक्षेत्र इसके प्रमाण हैं। आजका धनिक भी लौटाता है, परंतु अधिकतर प्रचार एवं विज्ञापनके माध्यमसे। दान-का स्तर भी आज गिरता जा रहा है।

'संशय-सर्प-ग्रसन उरगादः'

(लेखक—श्रीचन्द्रशेखरसिंहजी)

तुलसीने 'रामचरितमानस'में 'संशय'को विहग, तिमिर और सर्प कहा है। किसान खेतमें बीज बोता है। विहग उन्हें चुग जाना चाहते हैं। फसल पक जाती है, बालियाँ लटक जाती हैं। विभिन्न प्रकारके पक्षी उनपर टूट पड़ते हैं और एक-एक दानेको लूट ले जाना चाहते हैं। चतुर किसान तालियाँ बजा-बजाकर विहगोंको उड़ाता रहता है, ताकि बीजकी रक्षा हो, पकी फसलकी रक्षा हो। मानव-मनमें भी भक्ति-भावके सत्य बीज भरे पड़े हैं। संशयके विहग उन्हें चुग जाना चाहते हैं। तुलसी एक चतुर किसानकी युक्ति बतलाते हैं—

'राम कथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी॥'

(मानस १। ११३। ½)

तिमिरमें सब कुछ छिप जाता है। दिनके प्रकाशमें जिन वस्तुओंको हम सहज ही देख पाते हैं, रात्रिके अन्धकारमें वे विलुप्त हो जाते हैं। दूर खड़ी रति भी राक्षसी लग सकती है। जब भक्तके हृदयको संशयका तिमिर आ घेरता है, तब भगवान्‌की प्राप्ति दुर्घट होने लगती है। किंतु भगवान् भक्तवत्सल हैं। वे अपना तेज प्रकट करते हैं। फलतः संशयका तिमिर फट जाता है। आत्मा आनन्दसे नाच उठती है। तुलसी कहते हैं—

'सुरपति संसय तिमिर सम, रघुपति तेज दिनेस।'

संशयके सर्प मोहान्धकारों निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते हैं। तर्क इनकी फुफकार है। यही संशयकी पुष्टि करता है। संशय और तर्कके अनुपातमें मनकी उद्विग्नता बढ़ती जाती है। विषादसे हृदय दहक उठता है। भक्तकी यह दारुण पीड़ा भगवान्‌से देखी नहीं जाती। वे गरुडरूपमें आते हैं और संशयके सर्पोंका आहार करते हैं। तर्कजनित विषाद शान्त हो जाता है। सुतीक्ष्ण मुनि रामकी वन्दना करते हुए कहते हैं—

'संशय सर्प ग्रसन उरगादः। शमन सुकर्कश तर्क विषादः॥'

(मानस ३। १०। ४½)

इस संशय-सर्पने काकभुशुण्डिको एक बार बुरी तरह ग्रसा था। वे बड़े अधीर होकर गरुडको आप-बीती सुनाते हैं—

संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआयउ जन सुखदायक॥

(मानस ७। ९२। ३-३½)

संशयके सर्पने रामचरितमानसके विभिन्न पात्रोंको समय-समयपर ग्रसा है और उसका विष उन्हें बड़े वेगसे चढ़ा है। लगता है, अब प्रलय होकर रहेगा; जो कुछ सत् है, असत् हो जायगा। किंतु विषहर रामके सामने आते ही सारा जहर उतर जाता है। सती, सीताकी माता, परशुराम, मन्थरा, कैकेयी, दशरथ, केवट, लक्ष्मण, सीता, सुग्रीव, विभीषण, गरुड, काकभुशुण्डि आदि अनेकों संशय-सर्पसे ग्रसित हैं। राम सबका विष उतारते हैं।

बालकाण्डके शिव-पार्वती-संवादमें सतीके हृदयमें रामके प्रति संदेह उपजता है। शिव दण्डकारण्यमें विचरण कर रहे विरही रामको देखते हैं और जयकार मनाते हैं। वे राम-छवि देखकर मग्न हो रहे हैं; प्रीति रोके नहीं रुकती। सतीको संदेह होता है—

'सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी ॥'
(मानस १ । ४९ । २½)

रामके ब्रह्मत्वपर विश्वास नहीं होता।

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ॥
(मानस १ । ५०)

सतीकी दृष्टिमें शंकर स्वयं ब्रह्मरूप हैं। अन्तर्यामी शिव सतीके हृदयमें उठ रहे तर्क-वितर्कको जान रहे हैं। वे उन्हें सचेत करते हैं—

'संसय अस न धरिअ उर काऊ।'
(मानस १ । ५० । ३)

किंतु उनके उपदेशका सतीपर कोई असर नहीं होता। वे हरिमायाकी प्रबलतापर हँसते-हँसते सतीको छूट दे देते हैं—

'जौं तुम्हरें मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥'
(मानस १ । ५१ । ½)

सती संशयका अहेर करने चल देती हैं। शिव चिन्तामें पड़ जाते हैं—

'मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं ॥'
(मानस १ । ५१ । ३)

सती सीताका कपट-वेष धारण करती हैं; लेकिन सर्वज्ञ रामके सामने जाते ही पहचान ली जाती हैं। राम अपना परिचय देते हुए उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। फिर—

'कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥'
(मानस १ । ५२ । ४)

वृषकेतुके अभावमें अकेली फिरनेकी बात सतीको खल जाती है। वे लज्जासे गड़ जाती हैं। इस संदेहका सतीको बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है; उन्हें पार्वतीका दूसरा जन्म लेना पड़ता है, तब कहीं उन्हें पुनः शिवकी प्राप्ति होती है। उत्तरकाण्डमें पार्वतीकी स्वीकारोक्ति है—

'नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा ॥'
(मानस ७ । १२८ । ४)

याज्ञवल्क्य शिव-पार्वती-संवादकी महत्ता बतलाते हैं—

'भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा ॥'
(मानस ७ । १२९ । १)

विश्वामित्र राजा दशरथसे याचना करने आते हैं—

'अनुज समेत देहु रघुनाथा।' (मानस १ । २०६ । ५)

दशरथका हृदय काँप उठता है। मुखड़ेकी कान्ति कुम्हलाती है। यों तो सभी पुत्र उन्हें प्राणप्रिय हैं, किंतु रामको देना तो उनके लिये किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। एक ओर परम सुकुमार बालक और दूसरी ओर अत्यन्त घोर कठोर राक्षस हैं। राजाकी वाणी सुनकर विश्वामित्र विमुग्ध हैं। तब वसिष्ठ मुनि रामके अवतारत्व और विश्वामित्रके तपका प्रभाव स्पष्ट करते हैं। राजाका संदेह मिटता है—

'नृप संदेह नास कहँ पावा ॥' (मानस १ । २०७ । ४)

धनुर्भङ्गके समय सीताकी माता संशयमें पड़ जाती है—'बाल मराल कि मंदर लेहीं।' (मानस १ । २५५ । २)। किंतु एक चतुर सखी तेजवन्तोंका उदाहरण प्रस्तुत कर उन्हें संतुष्ट करती है। अगस्त्य समुद्रको सोख जाते हैं, सूर्य तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है; ओंकारमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश—तीनों हैं, छोटा अङ्कुश मतवाले हाथीको वशमें कर लेता है, कामदेव कुसुम-सायकसे संसारको वशमें किये रहता है। अतः 'बाल मराल'के मन्दरको उठा लेनेमें रञ्चकमात्र भी संदेह नहीं है—

'देबि तजिअ संसउ अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी ॥'
(मानस १ । २५६ । १)

रामके अवतारत्वपर परशुरामको अभी संदेह है। खूब कूद-फाँद कर लेनेके बाद वे रामसे कहते हैं—

'राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू ॥'
(मानस १ । २८३ । ३½)

धनुष लिये जाते समय स्वयं चढ़ जाता है। परशुराम विस्मयसे भर जाते हैं। अब 'विनय सील करुना गुन सागर।' (मानस १ । २८४ । १½) को पहचानते देर नहीं लगती।

अयोध्याकाण्डकी मन्थरा, कैकेयी और दशरथके त्रिकोणमें फँसा संदेहोंका जाल हम देखते हैं। कण्ठमें भीलनी-गीत लिये मन्थरा मृगी-कैकेयीसे कहती है कि प्रपञ्च रचकर रामके राज्यतिलकका लग्न रखा गया है—

'रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई॥'
(मानस २ । १७ । ३)

भरतको जान-बूझकर ननिहाल भेज दिया गया है—

'पठए भरतु भूप ननिअउरें। राम मातु मत जानव रउरें॥'
(मानस २ । १७ । १)

संदेहकी पूरी गुंजाइश है। पंद्रह दिनसे राज्य-तिलककी तैयारी हो रही है और कैकेयीको कुछ पता भी नहीं। राजामें यदि कपट न होता तो वे इसे कैकेयीसे छिपाते क्यों?—

'भयउ पाखु दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥'
(मानस २ । १८ । १½)

दशरथ इसे स्वीकार करते हैं—

राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राम मातु कछु कहेउ न काऊ॥
मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछें। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें॥
(मानस २ । ३१ । १)

मन्थराकी बातसे कैकेयीको अपने दुःस्वप्नपर विश्वास होने लगता है—

'दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने॥'
(मानस २ । १९ । ३½)

मन्थराकी दृष्टिमें इस दारुण स्थितिसे उबरनेका एक ही रास्ता है—

'दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती॥'
(मानस २ । २१ । २½)

वरदान माँगते समय जल्दबाजी नहीं करनी है। कौन ठिकाना, राजा दशरथ पलट जायँ। अतः—

'भूपति राम सपथ जब करई। तब मागेहु जेहिं बचनु न टरई॥'
(मानस २ । २१ । ३½)

कैकेयी मन्थरासे प्रबोध लेकर कोपभवनमें चली जाती है। कामविद्ध दशरथ वहाँ पहुँचते हैं। लेकिन सुलोचना, चन्द्रमुखी, पिकवचनी, गजगामिनी, सुन्दरजघना कैकेयी कुछ सुनती ही नहीं। दशरथ जब रामकी शपथ खाते हैं, तब कैकेयी हँसकर दो वरदान माँगती है—

'देहु एक बर भरतहि टीका।' (मानस २ । २८ । ½)

और दूसरा—

'चौदह बरिस रामु बन बासी॥' (मानस २ । २८ । १½)

दशरथ पहला वरदान तो स्वीकार कर लेते हैं, किंतु दूसरे वरदानको लेकर असमंजसमें पड़ जाते हैं। वे बार-बार रामकी साधुताका यशोगान करते हैं। यह कैकेयीसे सुना नहीं जाता है। वह रामको भी नहीं छोड़ती है—

'रामु साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने॥'
(मानस २ । ३२ । ३½)

अब मीन-मेषका कोई प्रश्न नहीं रह जाता। अगर कल प्रातः राम वन नहीं गये तो कैकेयीका मरण और दशरथका अयश ध्रुव है। पौ फटते सारी घटना सुमन्त्र रामको सुनाते हैं। आनन्द-निधान राम प्रसन्नतासे मुस्कुरा उठते हैं। कितना विमल आदर्श है उनका—

'सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥'
(मानस २ । ४० । ३½)

और—

'भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥'
(मानस २ । ४१ । ½)

इतना ही नहीं,—

'मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।'
(मानस २ । ४१)

केवटको रामकी चरण-धूलिपर पूरा संदेह है। यह धूलि मनुष्य बनानेवाली जड़ी है। अहल्या-उद्धारका प्रसङ्ग उसके सामने है। वह अपनी नावको स्त्रीके रूपमें परिवर्तित कराना नहीं चाहता। इससे उसकी रोजी चली जायगी। बच्चे बिलट जायँगे। इसलिये—

'मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥'
(मानस २ । ९९ । १½)

कृपासिन्धु राम मुस्कुराते हैं—

'सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥' (मानस २ । १०० । ½)

आदेश पा लेनेपर भी वह कठौतेमें पानी लाता है। यह देखनेके लिये कि यह स्त्री बनता है या नहीं।

चित्रकूटमें भरत रामसे मिलने आ रहे हैं। लक्ष्मणको उनकी नीयतपर संदेह है—

'जौं जियँ होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ॥'
(मानस २ । २२७ । ३½)

इसमें भरतका कोई दोष नहीं, यह तो संसारकी रीति है—

'जग बौराइ राज पदु पाएँ ॥' (मानस २ । २२७ । ४)

रामको असहाय जानकर वे आक्रमण करने आ रहे हैं। लक्ष्मणका प्रतिशोध-भाव जग उठता है। वे सिरपर जटा बाँधकर धनुष-बाण सँभाल लेते हैं। वे भरतको समर-शिक्षा देनेके लिये कटिबद्ध हैं, जिसका फल होगा—

'सोवहुँ समर सेज दोउ भाई ॥' (मानस २ । २२९ । २)

लेकिन भरतपर रामका अटूट विश्वास है—

'भरतहि होइ न राज मदु बिधि हरि हर पद पाइ ।'
(मानस २ । २३१)

लक्ष्मण शान्त हो जाते हैं।

अरण्यकाण्डमें जयन्त रघुपतिका बल देखना चाहता है। शायद रामकी अनन्त शक्तिपर उसे संदेह है। वह सीताके चरणमें चोंच मारकर भागता है। रामकी छोड़ी हुई सींक ब्रह्मास्त्र बन जाती है। अब जयन्तको त्रिलोकीमें कहीं शरण नहीं है। नारदके इशारेपर वह 'त्राहि-त्राहि' कर रामके चरणोंमें जा गिरता है। वह तो वधका पात्र है। किंतु—

'प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपालु रघुबीर सम ॥'
(मानस ३ । २)

सीताहरणके पूर्व मारीच-वध होता है। मारीच 'हा! लक्ष्मण' कहकर गिर पड़ता है। रामपर संकट जान सीता काँप जाती हैं। वे लक्ष्मणसे कहती हैं—

'जाहु बेगि संकट अति भ्राता ।'(मानस ३ । २७ । १½)

किंतु लक्ष्मण हँसकर माता जानकीसे कहते हैं कि स्वप्नमें भी उनपर संकट नहीं आ सकता। शायद लक्ष्मणका हँसना सीताके हृदयमें संदेहको जगा देता है। इस संदेहको वाल्मीकिकी तरह तुलसीने स्पष्ट नहीं किया है। फिर भी यह संदेह व्यञ्जित हो जाता है सीताके मर्म वचनोंसे—

'मरम बचन जब सीता बोला ।' (मानस ३ । २७ । २½)

इस 'मरम बचन'के लिये सीताको कम पश्चात्ताप नहीं होता—

'हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा । सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा ॥'
(मानस ३ । २८ । १½)

लङ्काकाण्डमें उन्हें फिर उन वचनोंकी स्मृति होती है—

'लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए ॥' (मानस ६ । ९८ । ४)

सीताकी खोज करते हुए श्रीराम पम्पासरकी ओर जा रहे हैं। मृग उन्हें देखकर भागते हैं। तब एक मृगी कहती है— तुम इनसे भय मत करो—

'तुम्ह आनंद करहु मृग जाए । कंचन मृग खोजन ए आए ॥'
(मानस ३ । ३६ । ३)

रामको अपने-आपपर क्षोभ होता है। वे अपनेको कञ्चनकी मायासे बँधा पाते हैं। उन्हें स्वयंके संदेहका गरल-पान करना पड़ा है। आत्मनिन्दासे ग्रस्त इन रामको प्रत्येक मानव अपनी छातीसे लगा लेनेका अभिलाषी है। सुन्दरकाण्डमें विभीषण इस कपट-कुरंगकी स्मृति करते हैं—'कपट कुरंग संग धर धाए ॥' (मानस ५ । ४१ । ३½) लङ्काकाण्डमें सीता भी इसका कुफल भोगती हैं—

'जेहिं कृत कपट कनक मृग झूठा । अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा ॥'
(मानस ६ । ९८ । ३½)

सुन्दरकाण्डके उत्तरार्द्धमें विभीषण रावणका चरणप्रहार लादे, रामके चरणोंका ध्यान किये, सिन्धुके पार चले आते हैं। कपिगण उन्हें शत्रुका दूत समझते हैं। वे विभीषणको सागरके किनारे एक तरहसे नजरबंद कर सुग्रीवके पास आकर वृत्तान्त सुनाते हैं। नीतिज्ञ सुग्रीवको विभीषणपर संदेह हो जाता है—

'जानि न जाइ निसाचर माया । कामरूप केहि कारन आया ॥'
(मानस ५ । ४२ । ३)

वह जरूर भेद लेने आया होगा। उसे बाँध रखना चाहिये। श्रीराम सुग्रीवकी नीतिपूर्ण बातका खण्डन नहीं करते, फिर भी नीतिपर उनका शरणागत-वत्सल रूप विजयी होता है। जो नर शरणागतका त्याग करता है, वह 'पावँर पापमय' है। उसे देखनेसे भी पाप लगता है। करुणाकर राम निर्द्वन्द्व हैं, संदेहरहित हैं। यदि—

'भेद लेन पठवा दससीसा । तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥'
(मानस ५ । ४३ । ३)

और—

'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥'

(मानस ५ । ४३ । ४)

वे उभय भाँति विभीषणको हृदयसे लगा लेते हैं—

'भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥' (मानस ५ । ४५ । १)

लङ्काकाण्डमें राम-रावण-युद्धके समय विभीषण रामके प्रति अत्यधिक प्रेमके कारण संदेहमें पड़ जाते हैं—

'रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥'

(मानस ६ । ७९ । १/२)

रामके पास न रथ है न पदत्राण है। विभीषणका हृदय स्नेहजनित चिन्तासे विगलित हो जाता है। रावण-जैसा बलवान् शत्रु भला कैसे जीता जायगा। कृपानिधान राम अपने सखासे कहते हैं कि वह रथ दूसरा है, जिससे जय प्राप्त होती है। उस स्यन्दनका वर्णन राम करते हैं, जिसे सुनकर विभीषण प्रसन्न हो जाते हैं और उनके चरण पकड़ लेते हैं—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥

(मानस ६ । ७९ । ३–५)

उत्तरकाण्डमें गरुडके संशयका वर्णन मिलता है। लङ्का-युद्धमें राम मेघनादके नागपाशमें बँध गये हैं। नारद गरुडको नागपाश काटनेके लिये भेजते हैं। गरुड बन्धन काट जाते हैं। किंतु उनके मनमें प्रचण्ड विषाद घर कर लेता है। राम तो 'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा।' (मानस ७ । ५७ । ३१/२) हैं, फिर उन्हें उनका बन्धन काटने क्यों आना पड़ा।

'देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदयँ मम संसय भारी॥'

(मानस ७ । ६८ । १/२)

गरुड नारदके पास जाते हैं और 'कहेसि जो संसय निज मन माहां॥' (मानस ७ । ५८ । २१/२)। नारद स्वयं मायाके मारे हैं, इसलिये इसका दुःख जानते हैं। वे गरुडको ब्रह्माके पास भेजते हैं। मायाने ब्रह्माको भी विपुल बार नचाया है। अतः वे गरुडको शंकरके पास भेजते हैं; क्योंकि 'तहँ होइहि तव संसय हानी।' (मानस ७। ५९।४)। गरुड शंकरके पास जाते हैं और 'पुनि आपन संदेह सुनावा॥' (मानस ७ । ६० । १/२)

शंकर उन्हें सत्सङ्गकी प्रेरणा देते हैं; क्योंकि 'तबहिं होइ सब संसय भंगा।' यह सत्सङ्ग काकभुशुण्डिके यहाँ प्राप्त होगा। वहाँ पहुँचते ही 'गयउ मोह संसय नाना भ्रम।' शेष भ्रम राम-कथा सुननेपर समाप्त हो जाता है—

'गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।' (मानस ७। ६८)

गरुड विगतसंदेह हो जाते हैं। रामके चरणोंमें उनका नेह जग उठता है।

काकभुशुण्डि भी स्वयं मोहग्रस्त हो चुके हैं। उन्हें रामका बालरूप अत्यन्त प्रिय है। लेकिन राम तो सदा चिदानन्द हैं, वे साधारण बालकका चरित्र क्यों करते हैं ? वे जब समीप जाते हैं, तब राम हँसते हैं; जब भागते हैं, तब वे रोते हैं और जब चरण पकड़ने जाते हैं, तब वे भागते हैं। यह सब शिशुलीला देखकर भुशुण्डि भ्रममें पड़ जाते हैं। तब राम हँस पड़ते हैं और भुशुण्डिको पकड़नेके लिये घुटनों और हाथोंके बल दौड़ने लगते हैं। भुशुण्डि भाग चलते हैं। रामकी भुजा पीछा करती है। भुशुण्डि उड़ते हुए ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं, पर भुजा वहाँ भी उनका साथ नहीं छोड़ती। भुशुण्डि ब्रह्माण्डके सातों आवरणोंको भेदकर शक्तिभर भागते हैं, पर उन्हें कहीं चैन नहीं मिलता। वे भयभीत होकर आँखें मूँद लेते हैं और आँख खोलनेपर अपनेको अयोध्यामें पाते हैं। राम हँसते हैं और जैसे ही साँस लेते हैं, भुशुण्डि उनके मुखमें समा जाते हैं। वहाँ वे मानो शत कल्पतक भ्रमण करते हैं। राम पुनः हँसते हैं और भुशुण्डि बाहर आ जाते हैं। वे 'त्राहि-त्राहि' कर उठते हैं। रामका वरद हस्त उठता है—

'आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥'

(मानस ७ । ८३ । १)

भुशुण्डि प्रभु-भक्ति माँगते हैं। राम 'एवमस्तु' कहकर आशीर्वाद देते हैं—

'माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।'

(मानस ७ । ८५)

भुशुण्डि गद्गद हो जाते हैं। काक-देह पाकर वे धन्य हैं—

ताते यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेह।
निज प्रभु दरसन पायउँ गए सकल संदेह॥

(मानस ७ । ११४ क)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

जो संकल्प कर दिया, वह हाथसे छूट ही जाना चाहिये

प्रयागका हिंदी-साहित्य-सम्मेलन अपनी सेवाओंके लिये प्रसिद्ध हो चुका था। देशके गण्य-मान्य पुरुष उसके कार्यके प्रशंसक थे और उसकी योजनाओंमें शक्तिभर योगदान देते थे। इन्हीं दिनों सम्मेलनकी एक महत्त्वपूर्ण योजना बनी, जिसमें पर्याप्त धन-राशिकी आवश्यकता थी। धन एकत्रित करनेका भार मुख्यरूपसे सम्मेलनके मन्त्रीपर था। श्रीमौलिचन्द्रजी शर्मा उन दिनों सम्मेलनके प्रधान मन्त्री थे।

धन एकत्रित करनेके लिये उसका श्रीगणेश विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। आरम्भमें किन्हीं बड़े व्यक्तिसे ही रकम लेनेका प्रयत्न किया जाता है। श्रीशर्माजीने इस शुभ कार्यका आरम्भ दानवीर सेठ श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लासे ही करनेका निश्चय किया। वे सेठजीके पास गये और योजनाका परिचय देकर उनसे आग्रह किया—'चिट्ठेमें पहली कलम आपकी ही होनी चाहिये।' श्रीसेठजीने योजनाको बड़े मनोयोगपूर्वक सुना और उसकी प्रशंसा करने लगे। इसके पश्चात् बड़े संकोचसे बोले—'पण्डितजी ! आप जानते हैं, मैं व्यापार करना कभीका छोड़ चुका हूँ। अब मेरे हिस्सेका जो मिलता है, उसीमें सब कार्य चलाता हूँ। इस कारण मैं थोड़ा-सा ही दे सकूँगा।'

—यों कहते हुए उन्होंने चिट्ठेका कागज हाथमें लिया और उसपर पचीस हजार (२५,०००) रुपये लिख दिये। चिट्ठेका कागज शर्माजीके हाथमें देते हुए हाथ जोड़कर वे बोले—'पण्डितजी ! क्षमा कीजियेगा। यह काम तो ऐसा है कि एक लाख भी देता तो कम ही था। अब जो बन पड़ा, लिख दिया।'

मन्त्री महोदय पहली रकम इतने बड़े रूपमें देखकर प्रसन्न थे, पर इतना देनेपर भी श्रीसेठजीकी दैन्यभरी ग्लानिने उनको मुग्ध कर दिया। ऐसा उदाहरण उनके लिये जीवनमें यह पहला था।

इस घटनाके कुछ दिन बाद श्रीसेठजीने अपने निजी सचिवके द्वारा पचीस हजार रुपयेका चेक श्रीशर्माजीके पास भेज दिया। इस प्रकार अप्रत्याशित शीघ्रतासे चेक प्राप्तकर श्रीशर्माजी बड़े ही प्रसन्न हुए। वे इसके लिये कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिये श्रीसेठजीके पास पहुँचे। उन्होंने धन्यवाद देनेके पश्चात् सेठजीसे कहा—'ऐसी क्या जल्दी थी, मैं स्वयं आकर चेक ले ही जाता।'

श्रीसेठजी सहजभावसे बोले—'पण्डितजी ! दान किया हुआ धन मेरे पास पड़ा था। शरीरका क्या भरोसा; अगला श्वास आये न आये और मैं धर्मका ऋण कंधेपर लिये चला जाऊँ ! जो संकल्प कर दिया, वह हाथसे छूट ही जाना चाहिये।'

(२)

नियम-पालनकी दृढ़ता

बात उन दिनोंकी है, जब श्रीगोविन्दवल्लभजी पंत उत्तर-प्रदेशके मुख्य मन्त्री थे। श्रीपंतजी गोरखपुर पधार रहे थे। नगरके प्रमुख नेता, नागरिक एवं अधिकारी——सभी उनके स्वागतके लिये स्टेशनपर एकत्रित हो रहे थे। श्रीपंतजी प्रातःकाल पहुँचनेवाली गाड़ीसे आ रहे थे। हमारे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका श्रीपंतजीसे बहुत पुराना प्रेमका सम्बन्ध था। श्रीपंतजी श्रीभाईजीके व्यक्तित्व एवं विविध क्षेत्रोंकी उनकी अमूल्य सेवाओंसे बहुत प्रभावित थे और जब-जब वे गोरखपुर आते, श्रीभाईजीसे अवश्य मिलते थे। श्रीभाईजीका यह स्वभाव था कि वे अपने प्रेमी एवं सुहृज्जनोंको सदा सम्मान देते थे, चाहे उनसे अवस्थामें कोई छोटा ही क्यों न हो। श्रीपंतजीके आगमनकी सूचना श्रीभाईजीको भी प्राप्त हो गयी थी। अतएव वे भी श्रीपंतजीका स्वागत करनेके लिये स्टेशनपर जा पहुँचे।

श्रीभाईजीने स्टेशन जानेकी चर्चा अपने साथियोंसे नहीं की। प्रातःकाल नित्य-कर्मसे निवृत्त होकर उन्होंने ड्राइवरसे गाड़ी मँगवायी और अकेले ही स्टेशन पहुँच गये। श्रीभाईजी अपनी जेबमें कभी पैसा नहीं रखते थे। खादीकी बनियान और धोती उनका नित्यका वेष था। जब बाहर जाना होता, तब ऊपरसे कुर्त्ता पहन लेते थे। उस दिन भी उन्होंने वही किया। स्टेशन पहुँचनेपर उनके ध्यानमें आया कि प्लैटफार्मके लिये पैसा तो नहीं लाये हैं। स्टेशनके सभी अधिकारी श्रीभाईजीके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे तथा

मिलनेपर उन्हें प्रणाम करते थे। अतएव प्लैटफार्मपर उनसे प्लैटफार्मका टिकट माँगनेका कोई प्रश्न ही नहीं था। पर श्रीभाईजीका सिद्धान्त था—'नियम नियम है, कोई हमें नियम-भङ्ग करनेपर कुछ न कहे, तब भी हमें नियमका दृढ़तासे पालन करना चाहिये। मनुष्यको एकान्तमें भी किसी बुराईका आश्रय नहीं लेना चाहिये।' अतएव वे स्वाभाविक रूपसे स्टेशनके बाहर खड़े हो गये।

इस बीच उनके एक स्वजन भी, जो वर्षोंसे उनके साथ कार्य कर रहे थे, श्रीपंतजीके स्वागतके लिये स्टेशनपर पहुँचे। श्रीभाईजीके समीप आकर उन्होंने उन्हें प्रणाम किया और वहाँ रुकनेका कारण पूछा। श्रीभाईजीने सहज भावसे उत्तर दिया—'आप जानते ही हैं, मैं तो अपने पास पैसा रखता नहीं और साथमें कोई आया नहीं। विना प्लैटफार्मका टिकट लिये भीतर कैसे जायँ? श्रीपंतजी बाहर आयेंगे ही, उनसे यहीं मिल लिया जायगा।'

स्वजनने कहा—'भाईजी! आपसे कौन प्लैटफार्मका टिकट माँगता है। पर मुझे ज्ञात है—आप नियमके पालनमें बड़े दृढ़ हैं। अच्छा, मैं अभी प्लैटफार्मका टिकट ला देता हूँ।' यों कहते हुए वे प्लैटफार्मका टिकट लेनेके लिये दौड़ पड़े। इसी बीच गाड़ी प्लैटफार्मपर आ गयी और श्रीपंतजी अपने डिब्बेसे उतरकर सबका स्वागत ग्रहण करते हुए प्लैटफार्मके बाहर पधारे। फाटकपर श्रीभाईजी खड़े थे। उन्हें देखते ही श्रीपंतजीने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। श्रीभाईजीने भी हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। श्रीपंतजी श्रीभाईजीके साथ बातें करने लगे और दोनों साथ-साथ आगे बढ़ने लगे। सामने श्रीपंतजीके लिये सरकारी मोटर खड़ी थी। दोनों महानुभावोंका वार्तालाप चालू था। दोनों महानुभाव साथ-साथ गाड़ीमें बैठकर डाक-बँगलेपर चले गये।

श्रीभाईजीके नियम-पालनकी इस दृढ़ताका स्मरण कर वे स्वजन आज भी गद्गद हो जाते हैं।

(३)

सत्यका मूल्य

डा० विधानचन्द्र राय पश्चिम बंगालके मुख्यमन्त्री रह चुके हैं। व्यवसायसे डाक्टर होनेपर भी उनको राजनीतिसे बड़ा प्रेम था। वे जब विद्यार्थी थे, उस समय भी वे बड़े तेजस्वी थे। इतना होनेपर भी वे कालेजके तीसरे वर्षमें अनुत्तीर्ण हो गये। इतने तेजस्वी एवं मेधावी होनेपर भी वे अनुत्तीर्ण कैसे हुए, इसका कारण जाननेकी स्वाभाविक ही जिज्ञासा होती है। प्रतिवर्ष प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेवाला विद्यार्थी अकस्मात् अनुत्तीर्ण हो जाय, यह सचमुच आश्चर्यजनक घटना थी।

जिस कालेजमें वे अध्ययन कर रहे थे, उसीके फाटकके समीप एक दिन कालेजके एक प्राध्यापक महोदयकी मोटरसे दुर्घटना हो गयी। प्राध्यापक महोदयके द्वारा घटित हुई मोटर चलानेकी भूलका ही यह परिणाम था। उस समय विद्यार्थी विधानचन्द्र वहाँ खड़े थे। पुलिसने आकर घटनास्थलकी जाँच की और जो-जो वहाँ उपस्थित थे, उनके नाम लिख लिये। विधानचन्द्रका नाम भी लिखा गया।

अदालतमें प्राध्यापकके ऊपर केस चला और विधानचन्द्र साक्षीके रूपमें न्यायालयमें उपस्थित हुए। विधानचन्द्र बचपनसे ही बड़े सत्यवादी थे। अतः अपने ही प्राध्यापकके विरुद्ध उन्होंने सच-सच बात कह दी। परिणाममें प्राध्यापककी असावधानी मानी गयी और उनपर जुर्माना हुआ।

इस प्रकार दण्डित होनेपर प्राध्यापक महोदयको बहुत बुरा लगा। अपना ही विद्यार्थी अपने विरुद्धमें साक्षी देकर उन्हें अपराधी घोषित कराये—इस बातसे उनके मनमें रोष हुआ और उन्होंने इस बातकी अपने मनमें गाँठ बाँध ली। कुछ दिनों पश्चात् परीक्षाके समय प्राध्यापकने अपने विषयमें विधानचन्द्रको बहुत कम अङ्क देकर उन्हें अनुत्तीर्ण कर दिया। विधानचन्द्रको अपने अनुत्तीर्ण होनेका कारण ध्यानमें तो आ गया, पर वे चुप रहे और दूसरे वर्षमें वे प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हो गये।

कुछ दिनोंके बाद जब उन प्राध्यापक महोदयकी विधानचन्द्रसे भेंट हुई, तब उन्होंने प्रश्न किया—'विधानचन्द्र! गतवर्ष अनुत्तीर्ण होनेका कारण तुम जानते हो?'

'जी हाँ, महाशयजी!' विधानचन्द्रने निडरतासे स्पष्ट उत्तर देते हुए कहा—'आपने जान-बूझकर अपने विषयमें कम अङ्क देकर मुझे अनुत्तीर्ण कर दिया था; क्योंकि मैंने न्यायालयमें आपके विरुद्ध साक्षी दी थी।'

'तो जानते हुए भी तुमने ऐसी चेष्टा क्यों की?' प्राध्यापक बोले। 'मेरे पक्षमें गवाही दी होती तो तुम्हारा एक वर्ष बच जाता!'

'श्रीमन्' विधानचन्द्रने सहजभावसे कहा—'जीवनके एक वर्षसे मेरी समझमें सत्य बोलनेका मूल्य कहीं अधिक है।'

इस अप्रत्याशित उत्तरको सुनकर प्राध्यापक चुप हो गये।

—'अखण्ड आनन्द'

(४)

शिष्यकी अनुशासन-प्रियता

'महान् सम्राट्का राजदूत'—सैनिक-वेषमें अश्वसे उतरते हुए दूतने अपना परिचय दिया। कक्षाके समस्त विद्यार्थी सम्राट्के राजदूतके सम्मानमें खड़े हो गये और अवाक् दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगे। विद्यार्थी रस्टिकसने निर्द्वन्द्व भावसे राजदूतकी ओर देखा। राजदूतने अभिवादन किया और आदरके साथ एक पत्र उनकी ओर बढ़ाया। रस्टिकसने पत्रको दूतके हाथसे ले लिया और उन्हें आदेश दिया—'आप थोड़ी देर बाहर बैठिये; यह हमारे अध्ययनका समय है। दूत आज्ञा पाकर कक्षासे बाहर चला आया और प्रतीक्षा करने लगा।

विद्यार्थी रस्टिकस उस देश (रोम) के सम्राट् होनोरियसका पुत्र था और दूरस्थित एक उच्च विद्यालयमें शिक्षा प्राप्त कर रहा था। सम्राट्को अपने पुत्रके पास एक आवश्यक संदेश भेजना पड़ा। राजदूत सम्राट्का वही संदेशपत्र लेकर राजकुमार रस्टिकसके पास आया था। संदेश बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। अतः दूत वायुवेगसे अश्वपर लंबी यात्रा करके विद्यालयमें पहुँचा था। कुछ क्षणका विलम्ब भी दूतको सह्य नहीं था, इससे दूत कक्षाके द्वारतक अश्वपर ही सवार रहा। वहाँ राजकुमारको उपस्थित देख घोड़ेसे कूदकर दूतने कक्षामें प्रवेश किया और अपना परिचय दिया।

रस्टिकसके आदेशसे दूतको बाहर जाते देख सभी विद्यार्थी चकित थे; किंतु राजकुमारके लिये यह एक सामान्य बात थी। इतना ही नहीं, गुरुजीकी उपस्थितिमें बिना उनकी अनुमतिके दूतने कक्षामें प्रवेश किया, रस्टिकसको इसका बहुत विचार हुआ। उसने यह अनुभव किया कि गुरुदेवके प्रति यह अशिष्ट व्यवहार मेरे राजपुत्र होनेके कारण ही हुआ है। अतएव यह अपराध मेरा है, दूतका नहीं। उसने गुरुदेवसे बड़ी ही नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'गुरुदेव! इस दूतकी अशिष्टताके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।' गुरुजी अपने शिष्यके इस आदर्श व्यवहारसे मुग्ध हो गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'बेटे! पिताजीके पत्रको पढ़ लो और दूतको बुलाकर जो संदेश देना चाहो, दे दो।'

रस्टिकसने उत्तर दिया—'गुरुदेव! यह मेरे अध्ययनका समय है। अध्ययनके समय पत्र पढ़ना तथा दूतको बुलाकर इसका उत्तर देना मेरी दृष्टिमें अनुचित है। आप कृपा करके अध्यापन कराइये। पाठ पूरा होनेपर मैं आपसे बाहर जानेकी अनुमति लूँगा और तभी सम्राट्का पत्र पढ़कर उसका उत्तर दूतको दूँगा।'

रस्टिकसके एक-एक शब्दसे विनम्रता, शान्ति, अनुशासन-प्रियता तथा गुरुके प्रति भक्ति प्रकट हो रही थी। गुरुदेवके मुखसे और हृदयसे एक साथ निकला—'बेटा! तुम खूब फूलो-फलो!'

(५)

परदोष-दर्शन भीषण पाप है

मुस्लिम भक्तोंकी एक टोली मक्का जा रही थी। शेख सादी उन दिनों बच्चे थे। मक्का जानेवाले दलमें अपने पिताके साथ वे भी थे।

तीर्थयात्रियोंने खुदाकी बंदगीके लिये कुछ नियम बना रखे थे। एक नियम यह भी था कि आधी रातको उठकर प्रार्थना की जाय। एक दिन रात्रिमें प्रार्थना करनेके लिये केवल शेख सादी और उनके पिता ही उठे। दलके और लोग यात्रासे इतने थक गये थे कि वे सोते ही रहे।

पिता और पुत्रने प्रार्थना की। प्रार्थना सम्पन्न होनेपर जब दोनों सोने लगे, तब सादीसे न रहा गया। आखिर बच्चे ही तो थे। वे बोले—'पिताजी! देखिये, केवल हम दोनोंने ही प्रार्थना की है। दलके ये लोग कितने आलसी हैं,—न उठते हैं न प्रार्थना करते हैं।'

बालकके ये वचन उस सरलचित्त और धर्मनिष्ठ पिताके हृदयमें तीरकी भाँति चुभ गये। उन्होंने सादीको सावधान करते हुए कहा—'मेरे सादी! तू भी प्रार्थनाके लिये न उठता तो अच्छा था। उठकर खुदाकी बंदगी की, इससे दूसरोंपर क्या अहसान किया? प्रार्थनाके लिये उठकर दूसरोंके दोष देखने तथा उसका बखान करनेसे तो न उठना ही श्रेयस्कर था।'

सादीको अपनी भूल समझमें आयी। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर पितासे अपनी भूलके लिये क्षमा माँगी। पिताने फिर कहा—'बेटा! परदोष-दर्शन ऐसा भीषण पाप है, जिसको खुदा ही क्षमा कर सकते हैं। तुम खुदासे ही अपने हृदयकी शुद्धिके लिये प्रार्थना करो।'

(६)

'धर्मपुत्री'

थोड़े दिन पूर्व मैं अपने एक रिश्तेदारसे मिलनेके लिये अस्पतालमें गया। उनकी चारपाईके सामने एक मारवाड़ी वृद्धाकी खाट थी। उसके पास एक युवक मधुर मन्द-स्वरमें भजन गा रहा था। भजनमें रस आनेसे मैं भी उसके पासमें जा बैठा।

'बेटा! एक दूसरा भजन गाओ तो।' एक भजन पूरा होते ही वृद्धा बोली। 'तेरे कण्ठमें भगवान्‌ने जितनी मिठास भरी है, उससे कहीं अधिक मिठास तेरे हृदयमें भर दी है। तेरी सेवाका बदला तो भगवान् ही देंगे।'

वृद्धाके इच्छानुसार उस भाईने सिंधी भाषामें दूसरा भजन आरम्भ किया। वह भाई सिंधी था। थोड़ी देरके बाद थरमसमें दूध, ताजे फल एवं खिचड़ी लेकर उसकी पत्नी आयी और उस वृद्धाके सामने आकर बैठ गयी।

'बेटा!' वृद्धाने भजन पूरा हो जानेके बाद कहा—'सगा पुत्र भी जितनी सेवा नहीं कर सकता, उतनी सेवा तुमलोग आज दस दिनसे कर रहे हो।'

'माँजी!' युवककी पत्नीने कहा—'आप अधिक कहेंगी तो हमलोग चले जायँगे। हमने इसमें कौन-सा उपकार किया है, जो हमें इतना यश आप दे रही हैं?'

'यह ठीक बात है, बेटी!' वृद्धाकी आँखोंमें आँसू भर आये। वह बोली—'मेरा बेटा तो खबर मिलनेके बाद भी नहीं आया, न उसने अपनी बहूको ही भेजा और तुम·······'

—'तो क्या हमलोग कोई परायेके हैं?' भैया और भाभीको कोई खास काम आ गया होगा, इसलिये वे नहीं आ सके होंगे। अभी तो अस्पतालसे छुट्टी मिलनेपर हमलोग आपको अपने घर ले जानेवाले हैं। जबतक आपको पूर्ण आराम न हो जाय, तबतक हमारे साथ ही आपको रखेंगे'—सिंधी भाई बोला।

—'और माँजी'! पत्नी बोली—''शुरू-शुरूमें जब हमलोग आपके मकानमें रहनेके लिये आये थे, तब आपने मुझे कहा था—'बेटी! तुझे देखकर मुझे मेरी बेटी मोहिनीकी याद आ जाती है।' अब आप ही कहिये, माँजी! कि आपकी यह मोहिनी आपको बीमार हालतमें अकेली कैसे छोड़ सकती है? हमलोगोंने संयोगवश मकान बदल लिया, किंतु मकान बदलनेसे आपसे मिले हृदयको कैसे बदल सकते हैं?''

—मैंने उस वृद्धा और युवा सिंधी-दम्पतिके साथ जितना समय व्यतीत किया, वह मेरे लिये स्वर्गीय सुखका समय था।

'अखण्ड आनन्द' —गुणवन्ती त्रिवेदी

(७)

प्रचारिकाका आदर्श जीवन

होवर बंदरगाहपर जहाज खड़ा है। दो छोटे बच्चोंको लिये एक महिला बहुत अधीर हो रही है। उसकी आँखोंसे अश्रुबिन्दु टपक रहे हैं और हृदयकी व्यथा कभी-कभी चीत्कारके रूपमें बाहर आ जाती है। यात्रियोंकी भीड़ है। कोई अपनी टिकट बनवाने, कोई अपना सामान जहाजमें लदवाने तथा कोई अपने स्वजनों-मित्रोंसे मिलनेमें व्यस्त है। किसीको चिन्ता नहीं है कि उस महिला और उसके बच्चोंकी ओर ध्यान दे। इसी समय एक भद्र महिला वहाँ पहुँचती हैं और उस दुःखिनी बहनके पास जाकर पूछती हैं—'बहन! क्यों रो रही हो?'

जब व्यथाको कोई सहलानेवाला मिल जाता है, तब उसका वेग तीव्र हो जाता है, शान्त होनेके लिये। दुःखिनी बहन उस भद्र महिलासे चिपटकर और भी जोरसे रोने लगी। थोड़ी देरमें जब उसके दुःखका आवेग कम हुआ, तब वह बोली—'बहन! मैं अमेरिका जाना चाहती हूँ। मेरे पतिदेवने मुझे जहाजके टिकटके लिये पैसे भेजे थे, किंतु थोड़ी देर पूर्व जब मैं टिकट बनवानेके लिये यहाँ आयी, तब मेरी सरलताको देखकर एक धोखेबाजने मुझे ठग लिया। उसने अपनेको यहाँका अधिकारी बताया और मैंने विश्वासमें आकर उसे रुपये दे दिये। उसने मुझे जहाजके टिकट दिये; परंतु देखो, ये नकली टिकट उसने मुझे सौंप दिये। मैं बहुत देरसे उस अधिकारीको खोज रही हूँ, पर उनका कहींपर पता ही नहीं मिल रहा है। जहाज

चलनेकी तैयारीमें है तथा मेरे पास फिरसे टिकट लेनेके लिये पैसे नहीं हैं । इसी विवशताने मुझे अधीर बना दिया है, बहन !'

'बस, इतनी सामान्य-सी बात है, बहन ! इसमें रोनेकी क्या आवश्यकता है ? तुम और तुम्हारे बच्चे मेरे साथ अमेरिका चलेंगे ।'—भद्र महिलाने कहा ।

इतने प्यारके शब्द उस दुःखिनी बहनने आजतक नहीं सुने थे । फिर एक अपरिचित स्थानमें एक अपरिचित महिलासे इस प्रकारके स्नेह और आश्वासनसे भरे शब्द सुनकर उसका दिल भर आया । भद्र महिला उस बहनको साथ लेकर जहाजके एजेंटके पास पहुँची । अपना प्रथम श्रेणीका टिकट लौटाते हुए उन्होंने साधारण श्रेणीके दो पूरे टिकट तथा दो बालकोंके टिकट बनवा लिये और बच्चोंसहित उस महिलाके साथ जाकर जहाजके साधारण श्रेणीके स्थानपर बैठ गयीं । उनके मुखपर बड़ी प्रसन्नता एवं उल्लास बने हुए थे ।

अपनी सुख-सुविधाओंका इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक त्याग करनेवाली भद्र महिला थीं—थियोसोफिकल सोसाइटीकी संस्थापिका मैडम ब्लैवत्सकी । वे अपनी सोसाइटीके प्रचारकार्यसे होकर नगरमें आयी थीं और उसी जहाजसे न्यूयार्क जा रही थीं । वहाँ उनका प्रचारका बहुत व्यस्त कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था ।

(८)

सार्थक सत्सङ्ग

गुजरातके कवीश्वर दलपतराम डाह्याभाईके साथ प्रसिद्ध नाट्यकार डाह्याभाई धोल्शाजीकी किसी कारण अनबन हो गयी थी और पुत्रोंके द्वारा परस्पर चर्चाकी मिर्चें उड़ाकर जीवनमें और भी जलन बढ़ायी जा रही थी । इस प्रकार कई वर्षोंतक दोनोंमें वैमनस्य चलता रहा ।

एक दिन 'सत्सङ्ग-सभा' में किसी संतका व्याख्यान होनेवाला था । उसे सुनने डाह्याभाई धोल्शाजी वहाँ गये हुए थे । प्रवचनमें उन्होंने ऐसा एक वाक्य सुना—'बुढ़ापेमें वृद्ध मनुष्यको सारा वैर-जहर भूलकर सुलह-प्रेमकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये । दो पशु जो आपसमें सींगोंसे लड़ते हैं, वे यदि परस्पर क्षमा चाहें भी तो ऐसा हृदय ईश्वरने उन्हें नहीं दिया; परंतु मनुष्यको तो प्रभुने विवेकशील हृदय दिया है ।'

ये वाक्य सुनते ही डाह्याभाईके हृदयपर एक चोट लगी और मन-ही-मन उन्होंने सोचा कि 'बात तो सत्य है, बुढ़ापा तो आशीर्वाद है, परंतु बुढ़ापेके दोष अभिशाप हैं । मनुष्यको जवानीकी भूलें बुढ़ापेमें सुधार लेनी चाहिये । कड़वी नीमोलीमें भी पकनेपर मिठास आ जाती है । इससे कवीश्वरके साथ चलते झगड़ेका अन्त करनेकी उन्हें प्रेरणा मिली और सभा समाप्त होते ही वे सीधे कवि दलपतरामके दरवाजेपर पहुँच गये ।

दलपतरामके आँगनमें जाकर डाह्याभाई सिर झुकाकर खड़े हो गये । दलपतराम उस समय घरमें हिंडोलेपर बैठे झूल रहे थे । वहींसे उनकी नजर डाह्याभाईपर पड़ी । वे कुछ क्षणोंके लिये आश्चर्यमें पड़ गये—'मैं जग रहा हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ ?' दलपतरामको लगा कि जरा भी पीछे पैर न रखनेवाला महान् योद्धा आज शस्त्र त्यागकर मेरे आँगनमें कहाँसे आ गया ? कवीश्वर हिंडोलेसे उतरकर डाह्याभाईके पास पहुँचे ।

'भाई ! आप मेरे यहाँ ?' कवीश्वरने गद्गद कण्ठसे कहा । कविका प्रेमोद्गार स्वीकार करते हुए डाह्याभाईने कहा—'हाँ भाई ! अंदर चलिये, अपने दिलकी बात करें ।'

और दोनों अनुभवी वृद्ध घरमें जाकर हिंडोलेमें बैठ गये ।

'युद्धमें यदि एक पक्ष सफेद झंडा फहरा देता है तो युद्ध रुक जाता है और सुलह हो जाती है । क्यों यह बात ठीक है न ?'—डाह्याने कवीश्वरसे पूछा ।

'हाँ भाई ! सुलहके लिये ही सफेद झंडा फहराया जाता है ।'

डाह्याभाईने सिरकी पगड़ी उतारकर कविके पास रख दी और सिरकी सफेद चोटी दिखाकर कहा—'प्रकृतिकी दी हुई इस सफेद झंडीकी उपेक्षा करके हमलोग कबतक लड़ते रहेंगे ? ऐसा विचार मनमें आते ही मैं कवि-हृदयकी क्षमा-याचना करने आपके द्वारपर चला आया ।'—डाह्याभाईने कहा ।

इसका उत्तर कवीश्वरकी जीभने नहीं, उनकी आँखोंसे झर-झर झरते हुए आँसुओंने ही दिया । दोनों वृद्ध राम-भरतकी तरह चिपट गये और जबतक जीवित रहे, पवित्र मैत्रीभावसे ही रहे । 'प्रदीप'

—धैर्यचन्द्र बुद्ध

श्रीहरिः

पाँच नयी पुस्तकें ! प्रकाशित हो गयीं !!

महाभारत-चित्रावलि

[पाँच भागोंमें]

कई वर्ष पूर्व गीताप्रेससे महाभारतका सटीक संस्करण मासिकरूपमें निकाला गया था। उसमें नयी-नयी डिजाइनोंके अत्यन्त आकर्षक कलापूर्ण सुन्दर चित्र दिये गये थे, जिन्हें जनताने अत्यधिक पसंद किया था और उनके लिये अलगसे प्राप्त करनेकी बराबर माँग आती रही। इसलिये चित्रप्रेमी जनताकी रुचि देखकर महाभारतके कुछ बचे हुए तथा अन्य फुटकर चुने हुए सुन्दर चित्रोंका संग्रह पाँच भागोंमें विभक्त करके अलग प्रकाशित किया गया है। पाँचों भागोंका विवरण निम्नलिखित है—

महाभारत-चित्रावलि नं० १

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे २० एवं इकरंगे ५—कुल २५, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५०

महाभारत-चित्रावलि नं० २

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे २० एवं इकरंगे ५—कुल २५, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५०

महाभारत-चित्रावलि नं० ३

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे १० एवं इकरंगे २०—कुल ३०, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५५

महाभारत-चित्रावलि नं० ४

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे १७ एवं इकरंगे ८—कुल २५, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५०

महाभारत-चित्रावलि नं० ५

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे १० एवं इकरंगे २०—कुल ३०, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५०

आवश्यक सूचना

गत कई वर्षोंसे 'कल्याण'के 'पढ़ो, समझो और करो' शीर्षक स्तम्भमें समय-समयपर कुछ उपयोगी दवाओंके विषयमें लेख छपते रहे हैं। अब उनका प्रकाशन नियमतः बंद कर दिया गया है। कारण यह है कि उस विषयमें परमश्रद्धेय श्रीभाईजीकी विशेष जानकारी थी; हमलोग इस विषयसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। यह समझकर लोगोंको इस विषयमें पत्र-व्यवहार नहीं करना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता-जयन्ती

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

'जो पुरुष सर्वत्र सबके सुख-दुःखको अपने सुख-दुःखके समान देखता है, वही, अर्जुन! मेरे मतसे श्रेष्ठ योगी है ।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ़ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है । इसका विश्वमें जितना ही वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा ।

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला ११, शनिवार, दिनाङ्क १६ दिसम्बर १९७२ ई०को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है । इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये । आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है । इस पर्वके उपलक्षमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य होने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन ।

(२) गीताके महान् वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासका पूजन ।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण ।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये, गीता-प्रचारके लिये, समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्यपरायण बनानेकी महान् शिक्षाके परम-पुण्य दिवसका स्मृति-महोत्सव मनानेके लिये सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन, भगवन्नाम-संकीर्तन आदि ।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण ।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीताकथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन ।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा ।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करें ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)